सुखमनी

एक बहुपक्षीय अध्ययन

कैप्टन डा. मनमीत कौर सोडी
एम.ए., पीएच.डी.

प्रकाशक :
उत्तर प्रदेश पंजाबी अकादमी, लखनऊ
UTTAR PRADESH PUNJABI ACADEMY, LUCKNOW

सुखमनी

एक बहुपक्षीय अध्ययन

कैप्टन डा. मनमीत कौर सोडी

एम.ए., पीएच.डी.

विभागाध्यक्षा, दर्शन शास्त्र

एन.सी.सी. प्रभारी

नवयुग कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय

राजेन्द्र नगर, लखनऊ (उ.प्र.)

प्रकाशक :

उत्तर प्रदेश पंजाबी अकादमी, लखनऊ

UTTAR PRADESH PUNJABI ACADEMY, LUCKNOW

सुखमनी - एक बहुपक्षीय अध्ययन

Written by :
Capt. Dr. Manmeet Kaur Sodhi
Head, Department of Philosophy
Associate NCC Officer
Navyug Kanya Mahavidyalaya
Rajendra Nagar, Lucknow.
Phone : (0522) 2692944

PUBLISHED BY :
UTTAR PRADESH PUNJABI ACADEMY (U.P. GOVT.)

PRICE : Rs. 100/-

PRINTED BY :
M/s. **BAKHSHISH**
Alambagh, Lucknow-226005
Phone : (0522) 2456014, 2459014

समर्पण

श्रद्धेय पिताजी स.बख्शीस सिंह सोडी

को

जिनकी प्रेरणा,सहयोग एवं महत्वाकांक्षाओं

के कारण यह संकल्प पूर्ण हो सका

एवं

पूज्यनीया माताजी स्वर्गीया श्रीमती महिन्दर कौर सोडी

की मधुर स्मृति को सादर समर्पित

प्रकाशकीय

"सुखमनी सुख अंम्रित प्रभ नामु।
भगत जना कै मनि बिस्राम।।"

उत्तर प्रदेश पंजाबी अकादमी का उद्देश्य पंजाबी साहित्य के लेखक तथा लेखिकाओं के लिए मंच प्रदान करने का प्रयास है, जिसके सहारे नये लेखक और लेखिकायें-यश, सौख्य, गौरव और प्रतिष्ठा प्राप्त करें। इसी क्रम में अकादमी का यह तृतीय प्रकाशन "सुखमनी-एक बहुपक्षीय अध्ययन" आप सबके सम्मुख प्रस्तुत है। इस पुस्तक की विद्वान लेखिका डा. मनमीत कौर सोडी बधाई की पात्र हैं, जिन्होंने गुरू ग्रन्थ साहिब में उपलब्ध सर्वाधिक लम्बी रचना 'सुखमनी' को राष्ट्रभाषा के माध्यम से जन सामान्य के लिए उपलब्ध करा दिया है।

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद का कार्य अत्यन्त चुनौतीपूर्ण होता है। मूल लेखक की भावनाओं के अनुरूप सम्बन्धित भाषा को व्याकरण की मर्यादा के आलोक में मूल भावों की संगति बैठाना, बिना किसी भावार्थ के छूटे अथवा प्रतिहत हुए मूल की रक्षा करना बड़ा ही कठिन होता है। परिस्थितिवशात् लेखक को कभी-कभी भाषानुवाद के साथ-साथ भावानुवाद भी करना पड़ता है। यहाँ तो डा. सोडी जी ने उन सबसे कठिन कार्य भाव अर्थ के साथ उसके दार्शनिक आलोक को प्रकाशित किया है।

उत्तर प्रदेश पंजाबी अकादमी के उपाध्यक्ष श्री राजेन्द्र सिंह बग्गा जी ने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर पुस्तक की गरिमा को गौरव प्रदान करते हुए लेखिका का भी उत्साहवर्धन किया है एतदर्थ मैं श्री बग्गा जी का आभारी हूँ।

इस पुस्तक को भव्य एवं स्वच्छ कलेश्वर प्रदान करने वाले मे. बख़्शिश प्रिन्टर्स, के संस्थापक संचालक सरदार सरब जीत सिंह को भी धन्यवाद देता हूँ, साथ ही इस पुस्तक के प्रकाशन से जुड़े उत्तर प्रदेश अकादमी के अपने सहयोगियों को आशीर्वाद देता हूँ, जिनके सक्रिय सहयोग से इस ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका है।

विजय कुमार त्रिपाठी
विशेष सचिव भाषा विभाग
उ0प्र0 शासन
एवं
निदेशक
उ0प्र0 पंजाबी अकादमी
लखनऊ

प्रस्तावना



वर्तमान समय में व्यक्ति येनकेन प्रकारेण सांसारिक सुखों व साधनों की खोज में सार्थकता समझने लगा है, जिस कारण से उसकी आन्तरिक शान्ति समाप्त होती जा रही है। इसलिए आवश्यकता है कि उसे यह ज्ञात कराया जाए कि किस प्रकार से सांसारिक कार्यों को करते हुए वह अपना आन्तरिक जीवन परमात्मा के साथ जोड़ कर एक आदर्श समाज की रचना में सहयोग प्रदान कर सकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु सिखों के धर्म ग्रन्थ श्री गुरू ग्रन्थ साहिब में अंकित काव्य रचना 'सुखमनी' जो अपनी बहुपक्षीय खूबियों के कारण सभी धर्मों के व्यक्तियों के द्वारा श्रद्धा के साथ पढ़ी जाती है, पर कैप्टन डा. मनमीत कौर सोडी द्वारा 'सुखमनी-एक बहुपक्षीय अध्ययन' पुस्तक की रचना करना एक प्रशंसनीय कार्य है। विषय पर सर्वाधिक बोली व समझी जाने वाली हिन्दी भाषा में विभिन्न दृष्टिकोणों से विवेचन उपलब्ध न होने के कारण पुस्तक हिन्दी में प्रस्तुत की गयी है।

उत्तर प्रदेश पंजाबी अकादमी पंजाबी भाषा और साहित्य के विकास व विस्तार में सहयोग प्रदान करने हेतु कार्यरत है। इसके लिए समय-समय पर विभिन्न कार्यक्रम जैसे-पंजाबी भाषा में अच्छे अंक प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को स्कालरशिप प्रदान करना, स्वतंत्रता आन्दोलन में पंजाबी साहित्य के योगदान विषय पर विचार गोष्ठी, पंजाबी लोकनृत्य एवं गीत सम्बन्धी कई सांस्कृतिक कार्यक्रमों, 'चौदहवां रत्न डा. भीमराव अम्बेडकर' तथा 'संयुक्त काव्य संग्रह - गुरू मानिओ ग्रन्थ' पुस्तकों का प्रकाशन आदि का आयोजन करती रही है। इसी कड़ी में कैप्टन डा. सोडी की पुस्तक का प्रकाशन एक नवीन कदम है। अकादमी को इस सामाजिक जागरूकता सम्बन्धी कार्य में सहयोग करने पर गर्व की अनुभूति हो रही है।

स्वयं एक प्रतिष्ठित एवं समाज सेवी परिवार से सम्बन्धित कैप्टन डा. सोडी के उक्त प्रयास की मैं प्रशंसा करता हूँ तथा उनके उज्जवल भविष्य की कामना करता हुआ यह आशा करता हूँ कि पाठक इस पुस्तक के अध्ययन से लाभान्वित होंगे।

राजेन्द्र सिंह बग्गा
उपाध्यक्ष, उत्तर प्रदेश पंजाबी अकादमी
उत्तर प्रदेश शासन

प्राक्कथन

सर्वप्रथम उस परमात्मा का हृदय से आभार, जिनकी कृपा से विषय पर अपनी तुच्छ बुद्धि तथा ज्ञान के आधार पर जो कुछ भी सम्भव हो सका, प्रस्तुत कर सकी। "सुखमनी" सिखों के पंचम गुरू श्री गुरू अर्जुन देव जी की गउड़ी राग में लिखी एक महान दार्शनिक काव्य रचना है जो गुरू ग्रन्थ साहिब जी में पृष्ठ 262 से 296 तक अंकित है, सन्त भाषा में है तथा सिखों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के द्वारा भी बड़ी श्रद्धा के साथ पढ़ी जाती है। हिन्दी में सुखमनी के प्रस्तुतीकरण का उद्देश्य यह है कि सुखमनी एक ऐसी रचना है, जो जनमानस में सर्वाधिक लोकप्रिय है, जहां तक मुझे ज्ञात है, अभी तक हिन्दी में सुखमनी के दर्शन पर कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं है जिसमें अनेक पक्षों पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विवेचना की गयी हो। प्रस्तुत पुस्तक इसी अभाव की पूर्ति के लिए किया गया एक लघु प्रयास है। सम्भवतः मेरा यह अल्प प्रयास इस सम्बन्ध में सफलता प्रदान करने में सक्षम हो सके।

भाषा के दोष और विषय के प्रतिपादन में यदि कोई कमी रह गयी हो तो मैं उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूं। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जिन विद्वानों की पुस्तकों से विषय को समझने तथा पुस्तक लेखन में सहायता प्राप्त हुयी, वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

जहां तक सम्भव हो सका है मैंने पुस्तक को सरल और स्पष्ट बनाने का प्रयास किया है। मुझे आशा है कि यह पुस्तक हिन्दी माध्यम से सुखमनी का दार्शनिक विश्लेषण करने में पाठकों के लिए उपादेय सिद्ध हो सकेगी।

स. राजेन्द्र सिंह बग्गा, उपाध्यक्ष, उत्तर प्रदेश पंजाबी अकादमी, उत्तर प्रदेश शासन का विशेष आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मेरे इस प्रयास को जनसाधारण तक पहुँचाने में सहयोग प्रदान किया।

प्रो. हरपाल सिंह पन्नु, धर्म अध्ययन विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला, अपने श्रद्धेय पिताजी स. बख्शीस सिंह सोडी, भाई डा. जगजीत

सिंह सोडी, श्री अरविन्द मिश्र एवं स्नेही मित्रजनों का भी धन्यवाद करती हूँ, जिनका सक्रिय सहयोग व शुभकामनाएँ प्रेरणास्रोत के रूप में रहे।

स. सरबजीत सिंह, मे. बख़्शिश, लखनऊ का भी आभार व्यक्त करती हूँ। जिन्होंने व्यक्गित रुचि लेकर कार्य को सम्पन्न कराने में सहयोग दिया।

कैप्टन डा. मनमीत कौर सोडी

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

वर्तमान युग का मनुष्य सांसारिक पदार्थों की तृष्णा का शिकार है। वह यह समझता है कि उसकी आर्थिक हस्ती ही उसे महत्व प्रदान कर सकती है। इसलिए वह अच्छे-बुरे, सही-गलत की परवाह न करके येन केन प्रकारेण आर्थिक सम्पन्नता तथा उसके द्वारा सुख प्राप्त करने में लगा है। परन्तु सांसारिक पदार्थों से प्राप्त यह सुख क्षणभंगुर है। मनुष्य का शरीर भी शाश्वत न होकर नश्वर है। सुख तथा दुःख इस शरीर के साथ जुड़े ही रहते हैं। जो आज सुख है वही दूसरे पल दुःख का कारण बन जाता है। एक वस्तु की प्राप्ति के उपरान्त मनुष्य की इच्छाएं और अधिक बढ़ती जाती हैं। फिर इच्छाओं की पूर्ति न होने पर दुःख की प्राप्ति होती है। यदि इन दुःखों के कारणों को जानने का प्रयास किया जाए तो हमको यह ज्ञात होता है कि हम कुदरत के बनाए नियमों के विरूद्ध चले थे या उनका पालन नहीं किया था। फिर मानव मात्र शरीर ही नहीं है बल्कि इसमें मन है, आत्मा है, बुद्धि है। इस कारण से हमें केवल शारीरिक सन्तोष ही नहीं चाहिए बल्कि मानसिक और बौद्धिक खुराक की भी आवश्यकता होती है। आदिकाल से ही मनुष्य दुःखों को दूर करने के लिए कभी धर्म का सहारा लेता आया है तो कभी जादू-टोना आदि का सहारा लेता रहा है लेकिन उसको आत्मिक शान्ति कभी प्राप्त नहीं हुयी। इसीलिए सिखों के पंचम गुरू श्री गुरू अर्जुन देव जी ने तड़पते, भटकते एवं दुःखी मनुष्यों को अत्यन्त सहज व सरल भाषा में 'सुखमनी' की रचना करके यह सन्देश दिया कि किस प्रकार से व्यक्ति शान्त, सन्तुलित एवं निर्मल व्यक्तित्व धारण कर सकता है जिसके लिए वह आदिकाल से भटकता चला आ रहा है।

सुखमनी सम्पूर्ण मनुष्य की व्याख्या करती है। सम्पूर्ण मनुष्य कैसा होना चाहिए ? व्यक्ति सांसारिक चक्र से निकल कर किस प्रकार से शान्त, सन्तुलित एवं निर्मल व्यक्तित्व धारण कर सकता है ? इस प्रकार के प्रश्नों का अत्यन्त सहज व सन्तोषजनक समाधान सुखमनी में प्राप्त होता है।

सुखमनी एक महान वाणी है जो एक ही विषय में बंधी हुयी है। विद्वानों ने 'सुखमनी' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ दिये हैं। सम्पूर्ण वाणी में सुखमनी शब्द का प्रयोग मात्र तीन स्थानों पर किया गया है-

सुखमनी सुख अंम्रित प्रभ नामु।
भगत जना के मनि बिस्राम।। रंहाउ।।[1]

सुखमनी सहज गोबिंद गुन नाम।
जिसु मनि बसै सु होत निधान।।[2]

सभ ते ऊच ता की सोभा बनी।
नानक इह गुणि नामु सुखमनी।।[3]

उपरोक्त रहाउ वाली पंक्ति में सम्पूर्ण वाणी का केन्द्रीय भाव है। डा. ट्रंप इस का अंग्रेजी में अनुवाद करते हैं। उसका अनुवाद है- "सुखमनी में सुख है, हरि का नाम अमृत है। भक्तों के मन में अमन चैन है।" नीचे नोट में उन्होंने सुखमनी का भाव जोगीयों की श्रेष्ठ नाड़ी 'सुषुम्ना' बताया है।[4] डा.सोहिन्दर सिंघ वणजारा बेदी का भी मानना है कि सुखमनी वाणी का नाम सुषुम्ना नाड़ी पर रखा गया है।[5] डा. दीवान सिंघ के अनुसार- "सुखमनी का नाम सुखों की मनी अर्थात सुखों के खजाने का सूचक है। अर्थात किसी कीमती हीरे रूपी विषय सामग्री। यह इसका शाब्दिक अर्थ है। दूसरा तात्पर्य रहस्यवादी है अर्थात मन का सुख। मन का सुख व शान्ति प्राप्त करना ही इस संसार में मनुष्य की सहायता करता है। तीसरा भाव भी एक रहस्यवादी संकेत है अर्थात सुषुम्ना नाड़ी। यह उच्च समाधि की अवस्था है अर्थात सहजावस्था इसकी प्राप्ति में ही आनन्द है।"[6] सुखमनी का एक अर्थ कुछ विद्वानों ने 'सुखों की मणि' लिया है। प्रो. साहिब सिंघ के अनुसार- " प्रभु का अमर करने वाला तथा सुखदायी नाम सब सुखों की मणि है तथा इस का टिकाना भक्तों के हृदय में है।"[7] सोढी तेजा सिंघ जी ने भी इसका अर्थ किया है-" सुखमनी (सुखों की मणि) सबसे श्रेष्ठ सुख देने वाले परमात्मा का अमृत नाम है जो भक्तों के मन में बसता है।"[8] डा. सुरजीत सिंघ का भी यही मानना है कि सुखमनी का अर्थ सुखों की मणि है। काहन सिंघ नाभा के अनुसार-" मन को आनन्द देने वाली एक वाणी जो गउड़ी राग में श्री गुरू अर्जुन साहिब की रचना है जिसकी चौबीस अष्टपदी हैं।"[9] मैकालिफ ने इसका अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार किया है- "इस सुखमनी में प्रभु का नाम है जो अमृत की तरह सुख देता है तथा भक्तों के मन को शान्ति प्रदान करता है।[10] डा. गोपाल सिंघ जी लिखते हैं- "मन को सुख देने वाला परमात्मा का अमृत रूपी नाम भक्तों के मन में बसता है।"[11] भाई वीर सिंघ ने सुखमनी शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है- 'सुख+मन+ई= मन को सुख देने वाली। रहाऊ वाली पंक्तियों के अर्थ इस प्रकार किये हैं-मन को सुख देने वाली है, परमेश्वर का नाम अमृत सुख का दाता है, जिस नाम का निवास भक्तों के मन में होता है।'[12]

इस प्रकार से सुखमनी के तीन अर्थ निश्चित होते हैं-

1. सुषुम्ना नाड़ी
2. सुखों की मणि
3. मन को सुख देने वाली वाणी।

प्राचीन योग साहित्य में सुषुम्ना एक नाड़ी का नाम है। मेरूदण्ड में तीन नाड़ियां हैं- इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना। डा. जोगिन्दर सिंघ के अनुसार- सुषुम्ना नाड़ी

योग मत की शब्दावली में है। श्री गुरू अर्जुन देव योग मत की विचार धारा से सहमत नहीं थे। वह योग मत के किसी भी सिद्धान्त को उचित नहीं मानते। यह सिद्धान्त यौगिक क्रियाओं द्वारा चित्तवृत्तियों का निषेध करता है। प्राणायाम द्वारा आन्तरिक शुद्धि करना योग मत का मूल सिद्धान्त है। गुरू अर्जुन देव इन साधनाओं का पूर्ण रूप से खण्डन करते हैं।[13]

सुखमनी में योग साधना का खण्डन इस प्रकार किया गया है-

निउली करम करै बहु आसन।
जैन मारग संजम अते साधन।।
निमख निमख करि सरीर कटावै।
तउ भी हउमै मैल न जावै।।[14]

योग अभ्यास के लिए संसार का त्याग करने को भी उचित नहीं माना गया-

जोग अभिआस करम ध्रम किरिआ।
सगल तिआगि बन मधे फिरिआ।।[15]

प्यारा सिंघ पदम के अनुसार भारत के धार्मिक साहित्य में 'सुखमनी' बिल्कुल नवीन संकेत है। प्राचीन योग साहित्य में सुषुम्ना एक नाड़ी का नाम है। वेदों के अनुसार सुषुम्ना सूरज की सात किरणों में से एक है जिसके द्वारा यह चन्द्रमा को रोशन करती है।[16]

सुखमनी का अर्थ 'सुखों की मणि' भी मानने योग्य नहीं है तथा साहित्यिक दृष्टि से अनुचित, भ्रान्तिपूर्ण एवं दोषपूर्ण है क्योंकि यदि सुखमनी का यह अर्थ होता तो सुखमनी में 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग होता। क्योंकि गुरू ग्रन्थ साहिब में जहां मणि का ज़िक्र आया है वहां 'मनी' नहीं वरन 'मणि' ही प्रयुक्त हुआ है। इसलिए इस अर्थ के साथ पूर्ण रूप से सहमत नहीं हुआ जा सकता। डा. जोगिन्दर सिंघ के अनुसार- 'यह अर्थ सुखमनी के भाव को स्पष्ट नहीं करता है। क्योंकि मणि एक सांसारिक पदार्थ है। सांसारिक पदार्थों से आत्मिक सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। जबकि सुखमनी आत्मिक सुख का साधन रूप है। सुखमनी की विचारधारा सांसारिक पदार्थों के मोह से दूर करती है। क्योंकि यह सब क्षणिक और नश्वर है तथा आत्मिक सुख की राह में रूकावट हैं। इसलिए सुखमनी का अर्थ मणि के रूप में करना सुखमनी की विचारधारा के प्रतिकूल है।'[17]

रहाउ वाली पंक्ति में 'नाम' के लिए 'अमृत' का रूपक प्रयुक्त किया गया है। अमृत एक दिव्य पदार्थ माना जाता है, जो समस्त पदार्थों में श्रेष्ठ है। अर्थात सुखमनी उस वाणी की ओर संकेत करती है जो सुख देती है या जिसमें सुख की चर्चा की गयी है। प्रथम पंक्ति के अगले भाग में उसकी प्राप्ति का साधन बताया गया है-'अमृत जैसा प्रभु का नाम'। इस सुख की प्राप्ति से साधक को क्या लाभ पहुंचता है ? इसका उत्तर

दूसरी पंक्ति में है- 'भक्त के मन को सुख, शान्ति मिलती है। इस प्रकार से सुखमनी का भाव वह वाणी है जो मन को सुख देती है। जिसमें मन के सुख की चर्चा की गयी है। सुखमनी का केन्द्र बिन्दु है- परमात्मा का नाम जो समस्त सुखों का मूल है तथा जो भक्तों के मन में बसता है। यदि हम सुखमनी का गहनता से अध्ययन करें तो स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि समस्त कर्मों में परमात्मा का नाम ही श्रेष्ठ है। जिसकी प्राप्ति से समस्त सुख स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। ईश्वर का नाम स्मरण समस्त कर्मकाण्डों से उत्तम है। यदि प्रभु की कृपा हो तो जीव माया के जाल से निकल जाता है। ईश्वर की कृपा प्राप्त करने वाला साधक साध-संग करता है, नाम जपता है तथा धीरे-धीरे आत्मिक उच्चता प्राप्त करता हुआ वह ब्रह्मज्ञानी, गुरमुख, संत बन जाता है तथा परमात्मा के साथ एकाकार होकर शाश्वत सुख प्राप्त कर लेता है। समस्त सृष्टि तथा इसके निवासी जीव ईश्वर के गुण गाते हैं। वह ईश्वर सर्वव्यापक है। प्रभु का स्मरण करने वाला व्यक्ति अपने जीवन में अहंकार को नहीं आने देता तथा विनम्रता के साथ इस जगत में विचरण करता है। किसी भी व्यक्ति की निन्दा नहीं करता। ईश्वर सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों में है। जब जीव को ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है तब उसे ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है जिसके द्वारा वह समस्त स्थानों पर ईश्वर को ही देखता है। ईश्वर समस्त सुखों का खजाना है। उसका नाम स्मरण करने से समस्त प्रकार के सुख जीव को प्राप्त हो जाते हैं तथा 'इह लोक सुखीए परलोक सुहेले' चरितार्थ हो जाता है।

सुखमनी गउड़ी राग में चौबीस अष्टपदीयों का प्रबन्ध काव्य पंचम गुरू अर्जुन देव जी की आध्यात्मिक जगत को एक श्रेष्ठ व अद्वितीय देन है। इसकी हर अष्टपदी में दस-दस पंक्तियों की आठ पउड़ीयां हैं। हर अष्टपदी में एक प्रधान विषय है जिसका अष्टपदी से पूर्व श्लोक में सार है तथा अष्टपदी में व्याख्या अर्थात जिसमें सम्पूर्ण अष्टपदी का केन्द्रीय भाव निहित है। यह एक योजना सहित रची गयी वाणी है जिसमें मानव आत्मा विकास की मंजिलों को तय करती हुयी परमानन्द तक पहुंचती है। चौबीस अष्टपदीयों में एक क्रमबद्ध चर्चा है जिसके माध्यम से यह दर्शाया गया है कि मनुष्य किस प्रकार से सुखी हो सकता है ?

गउड़ी पूरबी थाट की निकटवर्ती है। थाट के अर्थ हैं- बनावट, रचना, सामग्री अर्थात नुमाइश करनी या प्रदर्शनी करनी। गउड़ी राग में जहां मीठे, सुरीले मोह लेने वाले गुण मौजूद हैं वहीं इसके माध्यम से वैराग्य पैदा होता है। वैराग्य की अवस्था में काम, क्रोध, लोभ, मोह व अहंकार नहीं होता। इस राग में सुखमनी की रचना का यह एक विशेष व सर्वोत्तम कारण था। महला के अर्थ हैं- महल, रहने का स्थान। महल स्त्री को भी कहा जाता है। चूंकि स्त्री को संसार का सेवा अंग समझा जाता है, संभवतः इसलिए गुरू अर्जुन देव जी ने स्वयं को सेवक के स्थान पर रखकर महला पंजवां लिखा क्योंकि सेवा से ही प्रभु के चरणों की धूल की प्राप्ति होती है-

सेवक कउ सेवा बन आई।
हुक्म बूझ परम पद पाई।।[18]

इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर गुरू अर्जुन देव जी ने स्वयं को प्रभु की प्राप्ति के लिए स्त्री रूप में प्रस्तुत किया है। सलोक- स+लोक जब सलोक के पहले अक्षर को अलग करके देखें तो अर्थ यह दर्शाता है कि वही लोक, वही देश अर्थात उपासना का देश। सलोक के अर्थ हैं- स्तुति, प्रशंसा, तारीफ़। स्तुति वही कर सकता है जो एक रूप हो जाए अर्थात कर्त्ता व करणहार में अभेद हो जाए। अष्टपदी के भाव हैं- आठ पदों का समूह अर्थात आठ छन्द एक प्रबन्ध में बंधे हुए। पदी अर्थात दर्जा, ओहदा, सम्मान योग्य पद की प्राप्ति, ऊंचे दर्जे का स्थान अर्थात इन चौबीस अष्टपदीयों को पढ़कर, समझकर, ज्ञान प्राप्त करके परम पद को प्राप्त किया जा सकता है।

पहली अष्टपदी में मंगलाचरण के पश्चात नाम सिमरन की महिमा का निरूपण करते हुए यह बताया गया है कि सिमरन के मार्ग पर चलने वाले ही दुःख, भय, संकटों से उबर कर परम सुख की अवस्था में विचरण करते हैं। इस अष्टपदी में रहाउ की दो पंक्तियां भी हैं जिसमें सम्पूर्ण वाणी का केन्द्रीय भाव निहित है। रहाउ की यह पंक्तियां सम्पूर्ण वाणी में केवल प्रथम अष्टपदी में हैं। दूसरी अष्टपदी में यह बताया गया है कि जब अन्य कोई साधन सहायक नहीं होता तथा संकट व परेशानियां जीवन की राह रोकते हैं तो ऐसी विकट अवस्था में एक प्रभु का नाम ही समस्त सुखों के मार्ग दिखाता है। प्रभु का नाम कल्पवृक्ष है, कामधेनु है, समस्त दुःखों का नाश करने वाला है, अशान्त, तप्त वातावरण को शान्त करने वाला है अर्थात इसकी विशेषताएं अनगिनत हैं। तीसरी अष्टपदी में बताया गया है कि यद्यपि व्यक्ति सुख के अनेक साधन मानते हैं जैसे- जप, तप, तीर्थ, त्याग, स्नान, कर्मकाण्ड आदि लेकिन इन मार्गों की चर्चा करके इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है कि सर्वोत्तम धर्म प्रभु का नाम सिमरन ही है तथा इसी से सच्चे आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। चौथी अष्टपदी में परम सत्ता में विश्वास तथा उसके सिमरन के महत्व को स्पष्ट किया गया है। समस्त सुख उसी की कृपा द्वारा हैं इसलिए कृतज्ञतावश उस प्रभु की याद व उसका धन्यवाद अत्यन्त आवश्यक है। पांचवीं अष्टपदी में यह बताया गया है कि मनुष्य ऐसे भुलावे का शिकार है कि वह मिथ्या पदार्थों को शाश्वत और सत्य मानकर उनमें उलझा हुआ है तथा इन्हीं पदार्थों के माध्यम से अपनी इन्द्रियों को सन्तुष्ट करना चाहता है। परन्तु इन समस्त पदार्थों से वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए सुखों के वास्तविक कारण व साधन को पहचानने पर बल दिया गया है। छटी अष्टपदी में जीवन जीने का ढंग बताया गया है। काम, क्रोध के नष्ट हो जाने पर खोज करते हुए यह बताया गया है कि प्रभु की शरण ही मुक्ति प्रदान कर सकती है। सातवीं अष्टपदी में आदर्श जीवन यापन करने वाले सधी हुयी शुद्ध आत्मा साध के उच्च आचरण तथा गुणों की व्याख्या की गयी है जिससे व्यक्तियों को श्रेष्ट मनुष्य का ज्ञान प्राप्त हो सके। आठवीं अष्टपदी में उच्च तथा सफल जीवन जीने वाले व्यक्ति के लिए ब्रह्मज्ञानी पद का प्रयोग किया गया है जिसके अन्तर में तथा वाह्य सदा सत्य का निवास होता है। यह अवगुणों व दुःखों से निर्लिप्त होकर विचरण करता है। वह समस्त जीवन लोक भलाई

विलक्षण चरित्र है। यह व्यक्ति संगीत नहीं संगत संगीत है।''[21]

सुखमनी की शैली अत्यन्त व्याख्यामयी है। आध्यात्मिक अनुभव को गुरू जी ने अधिक से अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। डा. रतन सिंघ जग्गी ने इसको व्यास शैली कहा है। आप की वाणी के मूल मुद्दे गुरू नानक जी की वाणी वाले ही हैं, लेकिन इसको कई रूपों से दलीलों से समझाने का प्रयास किया है। इस विधि से जिज्ञासु को बार-बार एक ही बात समझाकर आध्यात्मिक मार्ग पर दृढ़ करने की युक्ति बनायी गयी है। साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति स्वाभाविक रूप से सुखमनी में प्रतिपादित आध्यात्मिक भावना को समझ सकता है।"[22]

डा. दीवान सिंघ का कहना है कि सुखमनी की शैली विश्लेषणमयी, व्याख्या से भरपूर तथा विस्तार पूर्ण है। एक ख़ास विषय का पूरी तरह वर्णन करने का प्रयास इस प्रकार से किया गया है कि विषय के समस्त पक्ष रोशन हो जाएं। सुखमनी की अष्टपदियां एक विशेष विषय की पूर्ण व्याख्या करती हैं। जैसे- सिमरन (पहली अष्टपदी), नाम (दूसरी, तीसरी व चौथी अष्टपदी), भाणा (पांचवी), दात (छठी), साध महिमा (सातवीं), ब्रह्मज्ञानी (आठवीं), अनन्त रचना (दसवीं), करन कारन (ग्यारहवीं), अहंकार (बारहवीं) आदि।[23] डा. दीवान सिंघ का यह भी कहना है कि सुखमनी की चौबीस अष्टपदीयां, हर अष्टपदी की आठ-आठ पउड़ीयां तथा प्रत्येक अपने आप में पूर्ण, किसी महान कवि की कला की ही कृतियां हो सकती हैं।[24]

सुखमनी की शैली का एक गुण इसकी तर्कशीलता है। डा. करतार सिंघ सूरी के शब्दों में- "गुरू अर्जुन देव जी की शैली में संयम, गहराई तथा दलील है तथा आप की रचना शैली पर बौद्धिकता की स्पष्ट छाप है।"[25] व्यंग सुखमनी की शैली का एक अन्य गुण है।

प्यारा सिंघ पदम लिखते हैं कि सुखमनी एक सर्वोत्तम रचना है, जिसको सिखों के अलावा गैर सिख इलाकों में भी बड़ी श्रद्धा व प्रेम से पढ़ा जाता है। जिस सफलता से गुरू जी ने इस अनोखे महाकाव्य में आदर्श पूर्ण मनुष्य का जीवन चित्रित किया है, वह जिन्दगी को आगे बढ़ाने वाला है। कहीं कोई निराशा नहीं, उदासी या मायूसी नहीं, बल्कि अत्यन्त सुहृदयता के साथ मनुष्य को समझाया गया है कि यदि सर्वश्रेष्ठ बनना है तो विनम्रता को धारण करो, यदि ईश्वर को प्राप्त करना है तो सब को सज्जन जानो।[26]

सरलता, स्पष्टता तथा सहजता सुखमनी में इतनी है कि साधारण मनुष्य भी इसे बड़ी सरलता से समझ सकता है। डा. दीवान सिंघ के अनुसार- यह रचना विषय सामग्री की दृष्टि से, सरलता, स्पष्टता, प्रभावदीर्घता, बोली की मिठास तथा काव्य-कौशल की दृष्टि से पंजाबी काव्य साहित्य की एक उत्कृष्ट देन है, जिस का महत्व केवल सिख समाज में ही नहीं, बल्कि दुनिया का हर मनुष्य इससे एक जैसा आनन्द, रस व स्वाद पा सकता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यह वाणी संसार की कई बोलियों में रूपान्तरित की जा चुकी है। निश्चय ही सुखमनी पंजाबी साहित्य

की एक गौरवमयी कृति है। सिख धर्म की सबसे महत्वपूर्ण काव्य-रचनाओं जपुजी तथा आसा दी वार के बाद निःसंदेह सबसे आदरणीय स्थान सुखमनी का ही है।"[27]

सुखमनी की भाषा भावों के अनुकूल है। डा. रतन सिंघ जग्गी के अनुसार साधारण व्यक्ति को समझाने के लिए साधारण भाषा प्रयुक्त की गयी है। सरल ब्रज भाषा, पंजाबी मुहावरों के कारण दिल पर सीधा असर करने वाली अत्यन्त प्रेरणादायक है। गुरू अर्जुन देव जी बहुभाषी विद्वान थे। आप ने उस समय प्रचलित भाषायी परम्पराओं को परख-निरख कर तथा जन मानस की आवश्यकता तथा सूझ को ध्यान में रखकर अपनी बाणी को अनेक भाषायी सिस्टम में रचने का प्रशंसनीय प्रयास किया। विविध भाषायी ज्ञान के कारण आप की भाषा में सरलता, स्पष्टता विशेष रूप से देखने को मिलती है। आप की भाषा से ही आप के गंभीर तथा निर्मल व्यक्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। आप की भाषा की मुख्य विशेषता विशाल शब्द भण्डार है।"[28]

प्यारा सिंघ पदम का कहना है कि वास्तव में सुखमनी वर्तमान के हिन्दुस्तान की नयी गीता है, जिसको स्पष्ट विचारों तथा सरल भाषा के कारण हर कोई पढ़ व समझ सकता है। परम आनन्द की प्राप्ति मानवता की पुकार है, यह इन्सानियत की हजारों वर्षों की खोज है। गुरू जी इस बाणी में इसी मानसिक शान्ति की प्राप्ति की राह बताते हैं।[29]

सुखमनी की रचना काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। सब से पुराना स्रोत महिमा प्रकाश माना जाता है। जिसके अनुसार एक दिन गुरू जी एक रमणीक स्थान पर पहुंचे जहां बैठ कर नाम की वर्षा करने वाली बाणी उच्चारण की-

दिवस एक प्रभ किरपा निधान।
बाहर गए देख असथान।।
....

प्रभ सुखमनी नाम पोथी का धरा।
सभ जग मो प्रकाश तिन करा।।[30]

फरीदकोटी टीके में लिखा है कि 'एक समय श्री गुरू अर्जुन साहिब जी रामसर सरोवर पर अमृत समय बैठे थे। तब बाबा बुड्ढा जी और भाई गुरदास जी ने तथा सभी सिखों ने प्रार्थना की कि जीवों के उद्धार के लिए आप श्रीमुख से बाणी उच्चारण कीजिए। तब चौबीस हजार अक्षर वाली, चौबीस अष्टपदीयों की सुखमनी नाम की बाणी का उच्चारण हुआ। जो व्यक्ति इसका पाठ करे अथवा सुने, उसके अष्ट पहर में जो श्वास निकलते हैं, वह सब सफल हो जाते हैं।[31]

डा. सुरजीत सिंघ का मत है कि यह रचना 1601 से पहले की है। उन्होंने सुखमनी को गुरू जी की अन्तिम रचना माना है।[32] डा.तारन सिंघ का विचार है कि सुखमनी की रचना 1601 से 1604 के मध्य हुयी होगी क्योंकि गुरू ग्रन्थ साहिब की

संपादना इस समय के दौरान हुयी।[33]

डा.जोगिन्दर सिंघ के अनुसार यदि सुखमनी की रचना आदि ग्रन्थ की संपादना के दौरान की गयी तो समय 1602 ई. मानंना होगा, जबकि रामसर सरोवर की तैयारी सम्पूर्ण हो चुकी थी। आदि ग्रन्थ के कुल 1430 पृष्ठ हैं, जिनकी तैयारी चार वर्षों 1601 से 1604 ई. में हुयी। इससे यह स्पष्ट होता है कि पहले वर्ष में लगभग 360 पृष्ठ लिखे जी चुके होंगे। सुखमनी इस ग्रन्थ में पृष्ठ 262 से 296 तक अंकित है। इससे यह अंदाजा स्वाभाविक रूप से लगाया जा सकता है कि सुखमनी वाला भाग पहले ही वर्ष सम्पूर्ण किया गया, जो कि 1601 ई. के अन्त या 1602 ई. के आरम्भ का समय हो सकता है। अतः निश्चित ही सुखमनी का रचना काल 1601-1602 ई. ही हो सकता है।[34]

मेरे विचार में भी सुखमनी की रचना का समय 1601 से 1602 ई. के मध्य मानना ही ठीक है।

सन्दर्भ

1. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 262
2. वही, पृष्ठ 295
3. वही, पृष्ठ 296
4. Trump, The Adi Granth, p.378
5. सोहिन्दर सिंघ वणजारा बेदी, गुरू अर्जुन वाणी विच लोक तत्व, पृष्ठ 35
6. दीवान सिंघ, गुरू नानक दी साहित्य प्रतिभा ते होर लेख, पृष्ठ 142
7. साहिब सिंघ, सुखमनी साहिब सटीक, पृष्ठ 15
8. कथा दीप सागर, सुखमनी साहिब सटीक, पृष्ठ 15
9. काहन सिंघ नाभा, गुर शब्द रत्नाकर महान कोश, पृष्ठ 157
10. Max Arthur Macauliffe, The Sikh Religion,V.3, P.198
11. Gopal Singh, Sri Guru Granth Sahib, English Version, p. 25
12. भाई वीर सिंघ, पंज ग्रन्थी सटीक, पृष्ठ 1650
13. जोगिन्दर सिंघ , सुखमनी साहिब दा दार्शनिक आधार, पृष्ठ 40
14. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 265
15. वही, पृष्ठ 265
16. प्यारा सिंघ पदम, सुखमनी दर्शन, पृष्ठ 12
17. जोगिन्दर सिंघ , सुखमनी साहिब दा दार्शनिक आधार, पृष्ठ 42
18. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 292
19. किरपाल सिंघ कसेल व परमिन्दर सिंघ, पंजाबी साहित्य दी उत्पत्ति ते विकास, पृष्ठ 21
20. तारन सिंघ, श्री गुरू ग्रन्थ साहिब का साहित्यिक इतिहास, पृष्ठ 394
21. हरभजन सिंघ, गुरू तेग बहादुर साहिब जी दी बाणी एक अध्ययन, पृष्ठ102
22. रतन सिंघ जग्गी, पंजाबी साहित्य का स्रोतमूलक इतिहास, पृष्ठ 131
23. दीवान सिंघ, गुरू नानक दी साहित्यिक प्रतिभा ते होर लेख,पृष्ठ 138
24. वही, पृष्ठ 137
25. करतार सिंघ सूरी, गुरू अर्जुन दे वते सन्त दादू दयाल, पृष्ठ 32

26. प्यारा सिंघ पदम, सुखमनी दर्शन, पृष्ठ 6
27. दीवान सिंघ, गुरू नानक दी साहित्यिक प्रतिभा ते होर लेख,पृष्ठ 149
28. रतन सिंघ जग्गी, पंजाबी साहित्य का स्रोतमूलक इतिहास, पृष्ठ 135
29. प्यारा सिंघ पदम, सुखमनी दर्शन, पृष्ठ 7
30. स्वरूप दास भल्ला, महिमा प्रकाश, पृष्ठ 325-326
31. फरीदकोटी टीका श्री गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 581
32. सुरजीत सिंघ, सुखमनीः एक आलोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 104
33. तारन सिंघ, श्री गुरू ग्रन्थ साहिब का साहित्यिक इतिहास, पृष्ठ 393
34. जोगिन्दर सिंघ, सुखमनी साहिब दा दार्शनिक आधार, पृष्ठ 45-46

भक्ति मार्ग की प्रधानता

भक्ति शब्द भज् धातु से बना है। भज् का अर्थ सेवा करना होता है। इस प्रकार से भक्ति या सेवा के द्वारा ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करने का नाम ही भक्ति मार्ग है। भक्ति को जीवन मुक्ति का साधन तथा मार्ग माना गया है।

भक्ति-योग का मुख्य तात्पर्य है- अनन्यभाव। परमात्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे का भाव मन में न लाना ही अनन्यभाव कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिसका चित्त किसी भी वस्तु में न लगकर निरन्तर अनन्य प्रेम से ईश्वर में लगा रहता है, वह ईश्वर के स्वरूप, नाम, गुण आदि का चिन्तन और स्मरण करते हुए ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

अनन्यचित्त होने के साथ-साथ शरणागति की भावना भी भक्ति के लिए आवश्यक है। ईश्वर को ही सर्वस्व समझना तथा उसको अपना स्वामी, रक्षक, हितैषी समझ कर सब प्रकार से उन पर निर्भर हो जाना, समस्त कर्मों में ममता, अभिमान, कामना आदि को त्याग कर ईश्वर की सेवा, श्रद्धा आदि सभी शरणागति के अन्तर्गत आते हैं।

रामानुज के अनुसार भक्ति ईश्वर के प्रति मात्र प्रेम विषयक संवेग एवं श्रद्धा का भाव नहीं है जो ज्ञान शून्य है, बल्कि यह एक विशेष प्रकार का ज्ञान है जो मानवीय मन में ईश्वर के प्रति अत्यधिक आसक्ति का भाव निर्मित करता है। इसीलिए उन्होंने भक्ति को ध्यान और उपासना के समान माना है। श्री भाष्य में रामानुज ने कहा है कि ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रेमपूर्ण चिन्तन करना भक्ति है। अपने मन को ईश्वर में पूर्णतः केन्द्रित करना उपासना कहा जाता है। ईश्वर के स्वभाव का प्रेमपूर्ण स्मरण करना तथा ईश्वर का ध्यान करना भक्ति है। इस प्रकार से भक्ति भाव मिश्रित ज्ञान है। ज्ञान ही भक्ति का आधार है। ज्ञान के फलस्वरूप भक्ति का उदय होता है अर्थात भक्ति ज्ञान के फलस्वरूप विद्यमान होती है। जब साधक ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में निरन्तर मनन, चिन्तन एवं विचार करता है, तब उसके मन में भक्ति का संचार होता है। इस प्रकार से भक्ति ज्ञान, प्रगाढ़ प्रेम एवं अविचल श्रद्धा के द्वारा निर्मित होती है। एक साधक को ईश्वर के गुणों का निरन्तर स्मरण करते रहना आवश्यक माना गया है। एक मनुष्य के हृदय में प्रेम का उदय तभी होता है जब वह अपने प्रेम के विषय के गुणों के सम्बन्ध में जानकारी रखता हो। इस प्रकार से ज्ञान उपासक के मन में भक्ति के संचार के लिए परम आवश्यक है। रामानुज यह भी मानते हैं कि नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों को निष्काम की भावना से करने के फलस्वरूप मानव के हृदय में भक्ति का संचार होता है। इसलिए ज्ञान तथा कर्म भक्ति के तत्वों के रूप में प्रतिष्ठित हैं।[1]

भक्ति के विविध रूप माने जाते हैं। इनमें से दो भेद मुख्य हैं-

1. हेतुकी भक्ति- इसे सकाम भक्ति भी कहा जा सकता है क्योंकि इसमें भक्त

सप्रयोजन भक्ति करता है। यह भक्ति ईश्वर के लिए न होकर सांसारिक विषयों की प्राप्ति के लिए होती है। इस प्रकार की भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति तो नहीं होती, परन्तु अहेतुकी भक्ति के लिए मार्ग अवश्य प्रशस्त होता है। इसी कारण से इसे गौणी भक्ति भी कहा जाता है। गीता में हेतुकी भक्ति के लिए अर्थार्थी, आर्त तथा जिज्ञासु भक्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। सांसारिक पदार्थों के लिए ईश्वर को भजने वाला अर्थार्थी कहलाता है, संकट से उबरने के लिए ईश्वर का भजन करने वाला आर्त कहलाता है तथा ईश्वर के यथार्थ रूप को जानने की इच्छा करने वाला भक्त जिज्ञासु कहलाता है-

"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।[2]

2. अहेतुकी भक्ति- यह सर्वोच्च भक्ति मानी जाती है। इसे पराभक्ति भी कहा जाता है। यह भक्ति के लिए भक्ति है, निष्प्रयोजन है, अतः यह भक्ति की पराकाष्ठा है। भक्त सब कुछ त्याग कर केवल ईश्वर की आराधना करता है अर्थात पूर्ण निर्भरता। रामानुज के अनुसार भक्ति दो प्रकार की होती है-

1.साधन भक्ति
2.परमा भक्ति

साधन भक्ति पहली अवस्था है। इस अवस्था में भक्त संसार से विमुख होकर ईश्वर की ओर उन्मुख होता है। वह शम, दम आदि साधनों से अपने मन को निर्मल बनाता है तथा विशुद्ध चित्त को ईश्वर में लगाता है। यह भक्ति मुख्यतः ज्ञान के स्वरूप से सम्बन्धित है। जब मनुष्य आध्यात्मिक अनुभूति के लिए विकलता का अनुभव करता है तब वह आत्मावलोकन की दिशा में अग्रसर होता है। यह आत्मावलोकन की अवस्था ईश्वर के स्वरूप की जानकारी देने में सक्षम सिद्ध होती है। रामानुज के दर्शन में पातंजल योग के अष्टांग मार्ग- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि में समाधि को ही अष्टांग योग की चरम उपलब्धि माना गया है। इसीलिए इस प्रकार की भक्ति को साधन भक्ति की संज्ञा दी गयी है।

परमा भक्ति में साधक ईश्वर का दर्शन करता है तथा ईश्वर से एकाकारता का अनुभव करता है। यह साधन भक्ति का प्रतिफल है। जैसे ही साधन भक्ति से मन शुद्ध हो जाता है वैसे ही भक्त ईश्वर का दर्शन प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार की भक्ति में भक्त ईश्वर को अपनी अन्तरात्मा के रूप में प्रत्यक्षीकरण करने लगता है और उसके मन में अनन्य प्रेम का विकास होता है। वह निरन्तर ईश्वर के स्वरूप चिन्तन में निमग्न रहता है तथा संसार के किसी भी विषय के प्रति आकर्षण का भाव अनुभव नहीं करता है। इस अवस्था में साधक अपने सभी कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर देता है।[3]

भक्ति की पराकाष्ठा के रूप में प्रपत्ति को स्वीकार किया जाता है। भक्ति प्रारम्भिक अवस्था है, प्रपत्ति साध्य है। भक्ति में मुक्ति की कामना होती है। प्रपत्ति में भक्त ईश्वर के समक्ष पूर्ण समर्पण कर देता है। वास्तव में प्रपत्ति में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का समन्वय रहता है। प्रपत्ति शरणागत भक्ति है। प्रपत्ति के छः अंग माने

गए हैं-

- ➢ आनुकूलस्य संकल्प अर्थात ईश्वर के अनुकूल संकल्प, विचार और कर्म करना।
- ➢ प्रतिकूलस्य वर्जनम् अर्थात ईश्वर के प्रतिकूल विचार, संकल्प और कर्म न करना।
- ➢ रक्षिस्यतीति विश्वास अर्थात ईश्वर की रक्षा में विश्वास करना।
- ➢ वरणं अर्थात ईश्वर को ही एकमात्र पूज्य तथा आराध्य के रूप में स्वीकार करना।
- ➢ कार्पण्य अर्थात ईश्वर के चरणों में ही शरण लेना।
- ➢ आत्म निक्षेप अर्थात दीन भाव से ईश्वर में दृढ़ विश्वास के साथ शरणागति होना।

इस प्रकार से इन छः रूपों में भक्त जब ईश्वर की शरण ग्रहण करता है तो ईश्वर भक्त के आत्मसमर्पण तथा अनन्य प्रेम को देखकर प्रसन्न होते हैं तथा उसे मोक्ष प्रदान करते हैं।[4]

आराध्य विषय की दृष्टि से भक्ति के दो रूप हैं-

1.प्रतीक भक्ति

2.प्रतिमा भक्ति।

प्रतीक भक्ति से प्रतीकों के रूप में ईश्वर की पूजा की जाती है। प्राकृतिक वस्तुओं तथा शक्तियों को ईश्वर का प्रतीक मानकर ईश्वर की पूजा की जाती हे। मूर्ति की पूजा प्रतिमा भक्ति है। प्रतिमा भक्ति में ईश्वर के रूप में स्थापित मूर्तियों या प्रतिमाओं की पूजा की जाती है।[5]

विवेकानन्द का यह कथन मूर्ति पूजा के महत्व को दर्शाता है-"यदि मनुष्य जड़ मन्दिर बना कर भगवान में प्रीति कर सके तो अच्छा ही है। यदि भगवान की मूर्ति बनाकर इस प्रेम के आदर्श पर पहुंचने में मनुष्य को कुछ भी सहायता मिलती है तो उसे एक ही जगह बीस मूर्तियां पूजने दो। चाहे कोई भी काम क्यों न हो, यदि उसके द्वारा धर्म के उस उच्चतम आदर्श पर पहुंचने में सहायता मिलती है तो उसे अबाध गति से करने दो, पर हां वह नैतिकता के विरूद्ध न हो।"[6]

सामान्य रूप से भक्ति के नौ साधन माने गए हैं, जिन्हें नवधा भक्ति कहा जाता है। यह हैं- अर्चना, वन्दना, दासता, सेवा, स्मरण, कीर्तन, श्रवण, सख्य भाव तथा आत्म-निवेदन। भक्त की रूचि वैभिन्नता के आधार पर भक्ति के विविध रूप दिखायी देते हैं-

- ➢ संतभाव- अर्थात सर्वगुण सम्पन्न मानकर ईश्वर से बौद्धिक प्रेम करना।
- ➢ दास्यभाव- अर्थात ईश्वर के प्रति सेवा भाव या ईश्वर को स्वामी तथा स्वयं को दास मानना।

- सख्य भाव- अर्थात ईश्वर को सखा या मित्र के रूप में स्वीकार करना।
- वात्सल्य भाव- अर्थात यशोदा की कृष्ण के प्रति भक्ति के समान अनुभव करना।
- मातृभाव- अर्थात भक्त द्वारा ईश्वर को माता-पिता के रूप में पूजना।
- माधुर्य भाव- अर्थात भक्त द्वारा ईश्वर को प्रियतम तथा स्वयं को प्रियतमा समझना।[7]

बल्लभाचार्य के अनुसार भक्ति के दो रूप हैं-

1. मर्यादा भक्ति
2. पुष्टि भक्ति

मर्यादा भक्ति से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार फल प्राप्त होते हैं। पुष्टि भक्ति फल की आशा से मुक्त होती है। पुष्टि भी दो प्रकार की होती है-सामान्य पुष्टि और विशिष्ट पुष्टि। सामान्य पुष्टि से पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति होती है जबकि विशिष्ट पुष्टि को सर्वश्रेष्ठ भक्ति माना गया है। मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति दोनों ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होती हैं। पुष्टि भक्ति के चार रूप माने जाते हैं-

- प्रवाह पुष्टि भक्ति- अर्थात भगवद् उपयोगी कर्म में प्रवृत्त रहना।
- मर्यादा पुष्टि भक्ति- अर्थात रागमूलक विषय प्रवृत्ति से हटकर वैराग्य भाव से ईश्वर की कथा सुनने में रूचि दिखाना।
- पुष्टि-पुष्टि भक्ति- इस भक्ति से भक्त ईश्वर की कृपा प्राप्त करता है और वह भी सर्वज्ञ हो जाता है।
- शुद्ध पुष्टि भक्ति- यह परा भक्ति है तथा प्रेम प्रधान है।[8]

भक्ति मार्ग का अधिकारी कौन हो सकता है ? इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जो क्रोध, काम, लोभ, मोह आदि विकारों पर नियन्त्रण रखता है। जो बाह्य व आन्तरिक रूप से पवित्र हो। धैर्यवान, सन्तोषी व्यक्ति ही भक्ति मार्ग का अनुसरण कर सकता है।

सरल, निष्कपट तथा शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति ही भक्ति मार्ग का अधिकारी हो सकता है। ईश्वर से प्रेम तथा अनुराग के लिए श्रद्धा तथा निष्ठा आवश्यक है। इसके बिना भक्ति मार्ग पर नहीं चला जा सकता। भक्त को शिशु के समान सरल स्वभाव का होना चाहिए जो कि विश्वास तथा आस्था द्वारा ही सम्भव है। सन्देह तथा कपट से युक्त व्यक्ति भक्ति मार्ग का अधिकारी नहीं हो सकता।

भक्ति के लिए नैतिक सद्‌गुणों से युक्त व्यक्ति ही योग्य माना जाता है। क्षमा, दया, मैत्री, विनय, त्याग तथा परोपकार में संलग्न व्यक्ति ही भक्ति मार्ग पर चल सकता है।

किसी भी जाति, आयु या लिंग का भक्ति मार्ग के लिए कोई बन्धन नहीं होता। नैतिक गुणों से युक्त गृहस्थ भी भक्ति मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं। वह सांसारिक कार्यों को करते हुए भी परमात्मा के साथ आन्तरिक रूप से स्वयं को जोड़

सकते हैं।

सुखमनी का मार्ग भी भक्ति का है जिसमें नाम सिमरन की प्रधानता है। इसके मूल में प्रवृत्ति मार्ग है, संसार का त्याग नहीं है। संसार में विचरण करते हुए, सांसारिक पदार्थों का भोग करते हुए भी उससे विरक्त रहने का उपदेश है। गुरमति में गृहस्थ जीवन को मान्यता दी गयी है। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी पदार्थों के मोह से वैराग्य है। इस प्रकार से सुखमनी में प्रवृत्ति में निवृत्ति का अनोखा मिश्रण मिलता है-

अनदिनु कीरतनु केवल बख्यानु।
ग्रिहस्त महि सोई निरबानु।।[9]

नाम सिमरन को विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग तरह से परिभाषित किया है। सामान्य रूप से किसी वस्तु, स्थान या व्यक्ति को हम जिस संज्ञा से पुकारते हैं, उसको नाम कहा जाता है। किसी वस्तु के अस्तित्व को बताने के लिए उसके गुणों के अनुसार नाम दिया जाता है। मैकलोड के मत के अनुसार- 'नाम परमात्मा की सम्पूर्ण व्याख्या है तथा यही सत्य है।'[10]

डा. सुरिन्दर सिंघ कोहली के अनुसार- 'नाम को बीज मंत्र, गुरू का शब्द या परमात्मा का नाम कहा जा सकता है।'[11]

डा.परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार-'सत् उसके अस्तित्व का सूचक है जो परम तत्व का बोध करवाने वाला माना जा सकता है तथा नाम उस अंश विशेष की ओर संकेत करता है जो अपने निजी अनुभव में आ चुका है। ......नाम में या इसके बाहर कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिस का सम्बन्ध नाम के साथ न हो'[12]

प्रो.राम सिंघ का विचार है कि नाम का अभ्यास एक तरफ तो साधक का सुधार कर देता है तथा दूसरी ओर अहंकार व विकारों को मनुष्य के अन्तर से निकालता है, वही तीसरी ओर निरंकार के नये-नये गुणों का अनुभव करवाता है।[13]

सुखमनी भक्ति मार्ग को सर्वोच्च मानती है। भक्ति के समस्त अंगों का सुखमनी में विस्तृत वर्णन है-

दास भावना- अर्थात दास भावना के साथ प्रभु की आराधना को उत्तम स्थान दिया गया है-

आतम रामु तिसु नदरी आइआ।
दास दसंतण भाइ तिनि पाइआ।।
सदा निकटि निकटि हरि जानु।
सो दासु दरगह परवानु।।[14]

सेवा- अर्थात साध, सन्त आदि की सेवा तथा विशेष रूप से चरणों की सेवा को भी सुखमनी में स्थान दिया गया है क्योंकि इसके द्वारा भक्त का जीवन पवित्र तथा निर्मल होता है-

चरन साध के धोइ धोइ पीउ।

अरपि साध कउ अपना जीउ।।[15]

सेवा को भक्ति का मूल स्रोत कहा गया है। सेवा के बिना भक्ति नहीं हो सकती। सुखमनी के अनुसार सेवा का अवसर भी उसको ही प्राप्त होता है जिस पर ईश्वर की कृपा होती है-

उन की सेवा सोई लागै।
जिस नो क्रिपा करहि बडभागै।।[16]

सेवा को उत्तम भाग्य की निशानी बताया गया है-

साध सेवा वडभागी पाईऐ।।[17]

ईश्वर की सेवा के लिए उसके प्रति समर्पण की भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा साधक ही ईश्वर को प्राप्त कर पाता है-

भगवंत की टहल करै नित नीति।
मनु तनु अरपै बिसन परीति।
हरि के चरन हिरदै बसावै।
नानक ऐसा भगउती भगवंत कउ पावै।।[18]

सेवा भक्ति के द्वारा ही समस्त पदार्थों की प्राप्ति होती है। सुखमनी में सेवा को परम पद की प्राप्ति का एक मुख्य साधन माना गया है-

सेवक कउ सेवा बनि आई।
हुकमु बूझि परम पदु पाई।।[19]

ईश्वर की भक्ति में लीन व्यक्ति के लिए निष्काम सेवा को श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि इसके द्वारा ही सेवक सेवा करता हुआ ईश्वर को प्राप्त कर लेता है-

सेवा करत होइ निहकामी।
तिस कउ होत परापति सुआमी।।[20]

श्रवण- अर्थात अपने इष्ट देव का यश सुनने की प्रेरणा भी सुखमनी में दी गयी है-

कर हरि करम स्रवन हरि कथा।
हरि दरगह नानक ऊजल मथा।।[21]

कीर्तन- अर्थात प्रभु के गुणों का रागों तथा संगीत सहित गायन करने का उपदेश भी सुखमनी में अनेक बार हुआ है-

वडभागी ते जन जग माहि।
सदा सदा हरि के गुन गाहि।।
राम नाम जो करहि बीचार।
से धनवंत गनी संसार।।[22]

जो तन व मन से प्रभु की भक्ति में लीन रहता है तथा स्वयं के साथ-साथ दूसरों को भी इसकी प्रेरणा देता है, वह उत्तम पदवी को प्राप्त कर लेता है-

काहू फल की इच्छा नही बाछै।
केवल भगति कीरतन संग राचै।।

....

आपि द्रिड़ै अवरह नामु जपावै।

नानक ओहु बैसनो परम गति पावै।।[23]

जो मनुष्य परमात्मा के गुणों का गायन करता है, वह ईश्वर की कृपा का पात्र बनता है तथा उत्तम फल की प्राप्ति करता है-

गुन गोबिंद कीरतनु जनु गावै।

गुर प्रसादि नानक फलु पावै।।[24]

अपने जीवन को विकारों से दूर रखने के साधन के रूप में कीर्तन को सुखमनी में विशेष साधन माना गया है-

अंम्रित बचन हरि के गुन गाउ।

प्रान तरन का इहै सुआउ।।[25]

सिमरन- अर्थात ईश्वर को हर श्वास याद करना। सुखमनी का केन्द्रीय विषय ही नाम सिमरन है। इसी से व्यक्ति के समस्त दुःखों का नाश होता है। सुखमनी का आरम्भ ही सिमरन से हुआ है-

सिमरउ सिमरि सिमरि सुखु पावउ।

कलि कलेस तन माहि मिटावउ।।[26]

प्रभु के सिमरन से जीव कई विकारों से बच जाते हैं-

प्रभ का सिमरन सभ ते ऊचा।

प्रभ कै सिमरनि उधरे मूचा।।[27]

सुखमनी की पहली अष्टपदी सिमरन की महिमा का विस्तृत विश्लेषण करती है। ईश्वर का सिमरन करने से जीव भव-चक्र से पार हो जाता है, विकारों से दूर हो जाता है, माया मोह में नहीं पड़ता, दूसरों की भलाई में अपना जीवन व्यतीत करता है,उसका मन स्थिर हो जाता है-

प्रभ कै सिमरनि गरभि न बसै।

प्रभ कै सिमरनि दूखु जमु नसै।।

प्रभ कै सिमरनि कालु परहरै।

प्रभ कै सिमरनि दुसमनु टरै।।[28]

सुखमनी में सिमरन भक्ति को अनन्त शक्ति सम्पन्न माना गया है। इसी के द्वारा वेदों तथा धार्मिक ग्रन्थों की रचना हुयी, नीच मनुष्य संसार में विख्यात हो गए। सिमरन में ईश्वर स्वयं बसता है-

हरि सिमरनु करि भगत प्रगटाए।

हरि सिमरनि लगि बेद उपाए।।

हरि सिमरनि भए सिध जती दाते।

हरि सिमरनि नीच चहु कुंट जाते।।[29]

नाम सिमरन के महत्व का सुखमनी में विस्तृत वर्णन है कि इसके द्वारा

मनुष्य के दुःखों का नाश होता है तथा उसे भव-चक्र से मुक्ति मिलती है-

जनम मरन ता का दूखु निवारै।
दुर्लभ देह ततकाल उधारै।।[30]

प्रभु के नाम सिमरन को 'पारिजात' या 'कल्पवृक्ष' कहा गया है जो समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला माना जाता है अर्थात सिमरन से व्यक्ति में अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति करने की सामर्थ्य आ जाती है। ईश्वर का सिमरन समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाली 'कामधेनु' के समान है। कामधेनु उन चौदह रत्नों में से एक है जो रत्न देवताओं को समुद्र-मन्थन के द्वारा प्राप्त हुए थे। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य में ऐसी शक्ति प्राप्त करने की सम्भावनाएं प्रभु के नाम सिमरन द्वारा ही प्राप्त होती हैं-

पारजातु इहु हरि को नाम।
कामधेन हरि हरि गुण गाम।।[31]

जिस प्रकार से बीज को उगने के लिए अनुकूल वातावरण की आवश्यकता होती है अर्थात वह योग्य भूमि पर ही उगता है, उसी प्रकार से प्रभु के नाम सिमरन के लिए भी अनुकूल शख्सीयत के रूप में गुरमुख व्यक्ति को स्वीकार किया गया है-

नाम तुलि कछु अवरू न होइ।
नानक गुरमुखि नामु पावै जनु कोइ।।[32]

मन की एकाग्रता तथा सच्चे प्रेम के बिना वास्तव में सिमरन नहीं हो सकता। सिमरन का उद्देश्य ही है कि मनुष्य का चित्त शान्त हो तथा सांसारिक कार्यों को करते हुए भी वह आन्तरिक रूप से परमात्मा से जुड़ जाए। इसके द्वारा व्यक्ति में समानता का भाव जागृत होता है क्योंकि ईश्वर सब में दृष्टिगोचर होता है। सुखमनी में स्थान-स्थान पर प्रभु के नाम सिमरन की महानता को दर्शाया गया है। जहां विपरीत परिस्थितियों में माता, पिता, पुत्र आदि कोई भी सहायक नहीं होता, वहां प्रभु नाम का सिमरन ही व्यक्ति के समस्त दुःखों का नाश करता है-

जह मात पिता सुत मीत न भाई।
मन ऊहा नामु तेरै संगि सहाई।।
....
जह मुसकल होवै अति भारी।
हरि को नामु खिन माहि उधारी।।[33]

मानव जीवन का एक पक्ष यह भी है कि यह जब तक जीवित रहता है तब तक भयमुक्त होना इसके लिए असम्भव प्रतीत होता है। सामाजिक, शारीरिक आदि विभिन्न कारणों से यह दुःखी रहता है तथा शान्त व सन्तुलित जीवन यापन नहीं कर पाता। इन समस्त परेशानियों का हल सुखमनी के अनुसार प्रभु नाम सिमरन है जो समस्त दुःखों, क्लेशों का अन्त करने में सक्षम है क्योंकि ईश्वर का सिमरन ही ऐसी अवस्था ला सकता है जबकि मनुष्य सुख तथा दुःख में समभाव से आचरण करना

सीख जाता है।
वन्दना- अर्थात श्रद्धा पूर्वक ईश्वर के चरणों को अपने हृदय में याद करने वाले भक्तों की चर्चा सुखमनी में है-
अनिक भगत बंदन नित करहि।

चरन कमल हिरदै सिमरहि।।[34]

अर्चना- सुखमनी में परमात्मा की पूजा व अर्चना के संकेत भी दिए गए है। यह माना गया है कि ईश्वर का सच्चा उपासक वही है जिसके हृदय में ईश्वर की भक्ति का प्रेम है तथा जो सभी बुरे काम करने वालों की संगति से दूर रहता है। उसके मन से हर तरह का भ्रम मिट जाता है तथा वह हर जगह पर ईश्वर को मौजूद जानकर उसकी पूजा करता है-

मन ते बिनसै सगला भरमु।
करि पूजै सगल पारब्रह्मु।।[35]

सुखमनी में प्रेम भक्ति को भक्ति मार्ग की बुनियाद के रूप में वर्णित किया गया है। पहले मन में ईश्वर के प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न हो तभी ईश्वर के प्रति भक्ति हो सकती है-

उपजी प्रीति प्रेम रसु चाउ।
मन तन अंतरि इही सुआउ।।[36]

सुखमनी में भक्ति के साधनों की चर्चा भी की गयी है। अरदास को भक्ति का एक प्रमुख साधन माना गया है। अरदास द्वारा ईश्वर को माता, पिता, स्वामी आदि का रूप बनाकर आत्म समर्पण का भाव जागृत होता है-

तू ठाकुरू तुम पहि अरदासि।
जीउ पिंडु सभु तेरी रासि।।
तुम मात पिता हम बारिक तेरे।
तुमरी क्रिपा महि सूख घनेरे।।[37]

भक्ति में मन को लगाने के लिए अरदास या प्रार्थना अनिवार्य है। ईश्वर की शरण में आकर अरदास करने से ही भक्ति की प्राप्ति सम्भव है-

फिरत फिरत प्रभ आइआ।
परिआ तउ सरनाइ।।
नानक की प्रभ बेनती।
अपनी भगती लाइ।।[38]

अरदास द्वारा अहंकार की निवृत्ति होती है तथा मन में विनम्रता आती है। दीन भावना के साथ अरदास करने से प्रभु की कृपा प्राप्त होती है तथा मनुष्य संसार सागर से पार हो जाता है-

करतार करूणामै दीनु बेनती करै।
नानक तुमरी किरपा तरै।।[39]

साध संगति के द्वारा भी भक्ति की प्राप्ति होती है। संगति से तात्पर्य होता है- मेल मिलाप और साध संगति से तात्पर्य है- श्रेष्ट व्यक्तियों का मेल मिलाप। सुखमनी की सातवीं अष्टपदी में साध संगति की विशेष महिमा बतायी गयी है। जैसे बियाबान जंगल में भटके हुए को मार्ग मिल जाता है उसी प्रकार से साध संगति के द्वारा आत्मिक प्रकाश होता है-

जिउ महा उदिआन महि मारगु पावै।
तिउ साधू संगि मिलि जोति प्रगटावै।।[40]

साध संगति के द्वारा मनुष्य प्रभु का साक्षात करता है तथा साध संगति में प्रभु का सिमरन करने से जन्म-मृत्यु से रहित हो जाता है तथा अमर पदवी को प्राप्त कर लेता है-

अमर भए अमरा पदु पाइआ।
साध संग नानक हरि धिआइआ।।[41]

साध की संगति से अहंकार समाप्त होता है तथा उत्तम ज्ञान प्रकट होता है अर्थात बुद्धि निर्मल हो जाती है-

साध कै संगि मिटै अभिमानु।
साध कै संगि प्रगटै सुगिआनु।।[42]

पांचों विकार वश में आ जाते हैं, किसी से भी बैर की भावना नहीं रह जाती क्योंकि प्रत्येक में उसे प्रभु का रूप ही दिखायी देता है। इस प्रकार से आध्यात्मिक उच्चता की प्राप्ति होती है-

साध संगि किस सिउ नही बैरू।
साध कै संगि न बीगा पैरू।।
साध कै संगि नाही को मंदा।
साध संगि जाने परमानंदा।।[43]

प्यारा सिंघ पदम के अनुसार भी श्रेष्ट धर्म की पाठशाला साध संगति है। अहंकार को त्याग कर प्रभु का सिमरन किया जाए तो आत्मा शुद्ध होती है तथा आत्मा की शुद्धि से ही सच्चे धर्म का ज्ञान होता है, सतगुरू से और साध संगति से।[44]
प्रभु भक्ति के लिए एक ढंग जिह्वा द्वारा सिमरन करना बताया गया है। इसके लिए किसी विशेष समय, स्थान या स्थिति की आवश्यकता नहीं होती बल्कि साधक जब, जिस स्थिति में तथा जिस भी स्थान पर हो, वह आठों पहर सिमरन कर सकता है-

आल जंजाल बिकार ते रहते।
राम नाम सुनि रसना कहते।।[45]

जिनि तेरी मन बनत बनाई।
ऊठत बैठत सद तिसहि धिआई।।[46]

श्वास-श्वास प्रभु सिमरन को भी भक्ति का एक साधन माना गया है। जिह्वा

या रसना द्वारा सिमरन बहिर्मुखी होता है जबकि श्वास-श्वास सिमरन अन्तर्मुखी होता है अर्थात तब इसकी गति श्वासों के साथ जुड़ जाती है। श्वास क्रिया की गति के अनुसार भक्ति करने वालों को सुखमनी में परमात्मा का प्यारा कहा गया है और इस प्रकार की भक्ति की प्रेरणा सुखमनी में बार-बार दी गया है-

प्रभ की उसतति करहु दिनु राति।
तिसहि धिआवहु सासि गिरासि।।[47]
जिह प्रसादि तुझु को न पहूचै।
मन सासि सासि सिमरहु प्रभ ऊचै।।[48]

डा. सुरेन्दर सिंघ कोहली ने भी नाम सिमरन के दो साधन माने हैं- रसना द्वारा तथा श्वास-श्वास।[49]

लिव जाप को भी भक्ति का साधन माना गया है। इसका तात्पर्य है एकाकारता या लीनता। इसमें मन की एकाग्रता होती है तथा जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाती है। यह सिमरन की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। इस अवस्था में चित्त वृत्तियों का पूर्ण रूप से दमन हो जाता है। सुखमनी के अनुसार जो व्यक्ति ईश्वर की शरण में अपना सब कुछ समर्पित कर देते हैं उनके अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश होता है-

परे सरनि आन सभ तिआगि।
अंतरि प्रगास अनदिनु लिव लागि।।[50]

जो मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है उसे ईश्वर का ज्ञान हो जाता है तथा दुःख, दर्द व भय मन से दूर हो जाता है-

मनि तनि नामु जपहु लिव लाइ।
दूखु दरदु मन ते भउ जाइ।।[51]

सुखमनी में यह भी उल्लेख है कि जिस प्रकार से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार से आध्यात्मिक विकास के लिए भी गुरू की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इसके बिना साधना सम्पन्न नहीं हो सकती। सुखमनी में परमात्मा को आदि गुरू कहा गया है। आरम्भ में ही उस आदि गुरू को नमस्कार किया गया है-

आदि गुरए नमह।। जुगादि गुरए नमह।।
सतिगुरए नमह।। स्री गुरदेवए नमह।।[52]

गुरू सांसारिकता में लीन जीव को परमात्मा से एक होने की राह दिखाता है। सुखमनी में गुरू के महत्त्व तथा आवश्यकता को स्वीकार करते हुए व्यक्ति के जीवन का आधार माना गया है। गुरू ही ज्ञान रूपी उजाले से अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करता है एवं मन में ज्ञान का प्रकाश करता है-

गिआन अंजनु गुरि दीआ।
अगिआन अंधेर बिनासु।।
हरि किरपा ते संत भेटिआ।

नानक मनि परगासु।।[53]

जो सेवक अपने गुरू के साथ रह कर उसकी आज्ञा के अनुसार जीवन व्यतीत करता है, उसके बताए मार्ग पर चलता है, हृदय से प्रभु का नाम सिमरन करता है, गुरू की सेवा निष्काम भावना से करता है, उसके समस्त कार्य पूर्ण हो जाते हैं तथा उसे परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है-

मनु बेचै सतिगुर कै पासि।
तिसु सेवक के कारज रासि।।
सेवा करत होइ निहकामी।
तिस कउ होत परापति सुआमी।।[54]

गुरू की आवश्यकता तथा महत्व को ध्यान में रखते हुए यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि ऐसे गुरू की पहचान कैसे की जाए तथा ऐसा गुरू कैसे व कहाँ प्राप्त हो सकता है ?सुखमनी में इसका समाधान दिया गया है कि वास्तविक गुरू वह है जिसके हृदय में आठों पहर प्रभु का नाम है और वह समस्त सुख व जीवन देने वाला है-

सो सतिगुरू तिसु रिदै हरि नाउ।
अनिक बार गुर कउ बलि जाउ।।
सरब निधान जीअ का दाता।
आठ पहर पारब्रहम रंगि राता।।[55]

वह ऐसा पूर्ण पुरूष है जिसके कथन व उपदेश सदा रहने वाले हैं। वह जिस ओर भी दया दृष्टि से देखता है, वह व्यक्ति सन्त हो जाता है अर्थात उसका जीवन उत्तम तथा शुद्ध हो जाता है-

पूरा गुरू अख्यउ जा का मंत्र।
अंम्रित द्रिसटि पेखै होइ संत।।[56]

इस प्रकार से सुखमनी की सम्पूर्ण रचना का मूल विषय ही नाम सिमरन है। इसी को भक्ति, मुक्ति, सुख तथा आनन्द प्राप्ति का साधन माना गया है-

हरि का नामु जन कउ मुकति जुगति।
हरि कै नामि जन कउ त्रिपति भुगति।।[57]

सुखमनी में आदि से अन्त तक प्रभु नाम की श्रेष्ठता, व्यापकता तथा सर्वोच्चता दर्शायी गयी है-

बहु सासत्र बहु सिम्रिती। पेखे सरब ढढोलि।।
पूजसि नाही हरि हरे। नानक नाम अमोल।।[58]

समस्त धर्मों में श्रेष्ट धर्म भी प्रभु भक्ति को ही माना गया है-

सरब धरम महि स्रेसट धरमु।
हरि को नामु जपि निरमल करमु।।[59]

भक्ति को मुक्ति का साधन माना गया है। इसके द्वारा सहजावस्था, ब्रह्म

ज्ञान व शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है-

ऐसा नामु मन सदा धिआईऐ।
नानक गुरमुखि परम गति पाईऐ।।[60]

नाम सिमरन को वेदों, पुराणों व स्मृतियों में भी सबसे पवित्र माना गया है। इसका वर्णन सुखमनी में भी किया गया है-

बेद पुरान सिंम्रिति सुधाख्यर।
कीने राम नाम एक आख्यर।।[61]

वेदों, स्मृतियों तथा शास्त्रों में भी यही कहा गया है कि नाम सिमरन करने से उच्च आध्यात्मिक अवस्था की प्राप्ति होती है-

इहु निधानु जपै मनि कोइ।
सभ जुग महि ता की गति होइ।।
गुण गोबिंद नाम धुनि बाणी।
सिम्रिति सासत्र बेद बखाणी।।[62]

प्राचीन भारतीय साधना पद्धति में तीन मार्गों का उल्लेख प्राप्त होता है- ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग तथा भक्ति मार्ग। मानव बौद्धिकता के विकास के फलस्वरूप जीव के दुःखों का कारण अज्ञानता या अविद्या माना गया है। इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए ज्ञान की प्राप्ति अति आवश्यक मानी गयी है। सुखमनी में भी ज्ञान को उच्च स्थान प्राप्त है क्योंकि मन अज्ञानता के कारण विचलित होता है। ज्ञान के द्वारा ही इसे वश में किया जा सकता है। ज्ञान के द्वारा ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि विकारों का दमन सम्भव है। तप, योग, समाधि, ध्यान की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ माना गया है-

बिदिआ तपु जोगु प्रभ धिआनु।
गिआनु स्रेसट ऊतम इसनानु।।[63]

सुखमनी में दो प्रकार के ज्ञान का वर्णन है-

1. आन्तरिक ज्ञान- यह तत्व ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान तथा सहज ज्ञान है-

अंतरि होइ गिआन परगासु।
उसु असथान का नही बिनासु।।[64]

आन्तरिक ज्ञान द्वारा मुक्ति, शान्ति, सुख, सिद्धि आदि की प्राप्ति होती है-

खेम सांति रिधि नव निधि।
बुधि गिआनु सरब तह सिधि।।[65]

2. वाह्य ज्ञान- यह सांसारिक पदार्थों का ज्ञान है। यह ज्ञान लोभ का कारण है-

बाहरि गिआन धिआन इसनान।
अंतरि बिआपै लोभु सुआनु।।[66]

सुखमनी में योग अभ्यास का प्रबलता से खण्डन किया गया है। यदि कोई व्यक्ति अपने सभी कार्यों को छोड़कर जंगलों में घूमता रहे, धर्म के विभिन्न कर्मकाण्ड करता रहे, दान पुण्य करे, अपने शरीर को कष्ट देकर व्रतों का आचरण करे तो भी

उसको शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती-

जोग अभिआस करम ध्रम किरिआ।
सगल तिआगि बन मधे फिरिआ।।
अनिक प्रकार कीए बहु जतना।
पुंन दान होमै बहु रतना।।
सरीरु कटाइ होमै करि राती।
वरत नेम करै बहु भाती।।[67]

जैन धर्म के साधना के कठिन मार्गों का भी सुखमनी में खण्डन किया गया है-

निउली करम करै बहु आसन।
जैन मारग संजम अति साधन।।[68]

तीर्थों पर जाकर स्नान किया जाए या फिर शरीर त्यागा जाए, लेकिन इससे न तो मन की मैल जाती है तथा न ही मन माया के प्रभाव से मुक्त ही हो पाता है। समस्त प्रकार के दुःखों का निवारण प्रभु नाम के सिमरन से ही सम्भव है-

मन कामना तीरथ देह छुटै।
गरबु गुमानु न मन ते हुटै।।
सोच करै दिनसु अरु राति।
मन की मैलु न तन ते जाति।।
इसु देही कउ बहु साधना करै।
मन ते कबहू न बिखिआ टरै।।
जलि धोवै बहु देह अनीति।
सुध कहा होइ काची भीति।।
मन हरि के नाम की महिमा ऊच।
नानक नामि उधरे पतित बहु मूच।।[69]

भारतीय परम्परा में कर्म मार्ग को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इन कर्मों को ही आवागमन का मूल कारण माना गया है। मनुष्य भव-चक्र में कर्मों के बन्धन के कारण ही पड़ता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं-

1. सकाम कर्म- यह वो कर्म होते हैं जिन्हें फल की इच्छा के कारण किया जाता है। इन कर्मों के संस्कार अन्तःकरण से जुड़े रहते हैं। अतः समय-समय पर वासनाओं सहित प्रबल हो जाते हैं। इन्हीं संस्कारों के अधीन ही मनुष्य भव-चक्र में पड़ा रहता है। मध्य युग में यज्ञ, पूजा, पाठ, तीर्थ गमन, तप, मूर्ति पूजा आदि कर्म सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति या मुक्ति को ध्यान में रख कर किए जाते थे। गुरमति में ऐसे कर्म काण्डों को अहंकार का कारण माना गया है और इनका स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया गया है। ऐसे कर्मों को करना व्यर्थ माना गया है-

कोटि करम करै हउ धारै।
स्रमु पावै सगले बिरथारे।।

अनिक तपसिआ करे अहंकार।
नरक सुरग फिरि फिरि अवतार।।[70]

2. निष्काम कर्म- यह वो कर्म हैं जो चित्त की शुद्धि के लिए तथा फल की इच्छा त्याग कर किए जाते हैं। ऐसे कर्मों को आध्यात्मिक कर्म भी कहा जाता है। सुखमनी में भी निष्काम कर्म को मान्यता दी गयी है। फल की इच्छा का पूर्ण रूप से त्याग करके कर्म करने की प्रेरणा सुखमनी में बार-बार दी गयी है-

करम करत होवै निहकरम।
तिसु बैसनो का निरमल धरम।।[71]

कर्म तथा फल दोनों को ईश्वर को समर्पित करते हुए जीवन व्यतीत करने से चौगुने आनन्द की प्राप्ति होती है-

जिस की बसतु तिसु आगै राखै।
प्रभ की आगिआ मानै माथै।।
उस ते चउगुन करै निहालु।
नानक साहिबु सदा दइआलु।।[72]

सुखमनी में ऐसे शुभ कर्मों को करने की प्रेरणा दी गयी हे जिनके द्वारा मन की मैल दूर हो जाती है-

सगल क्रिआ महि ऊतम किरिआ।
साध संगि दुरमति मलु हिरिआ।।
सगल उदम महि उदमु भला।
हरि का नामु जपहु जीअ सदा।।[73]

अशुभ कर्मों को सुखमनी में पशुओं के आचरण के समान माना गया है। यह कर्म वाह्य तथा दिखावटी होते हैं। माया, मोह व अहंकार आदि के अधीन होकर किए जाते हैं इन कर्मों के मूल में छिपी दुर्भावनाओं के कारण ही यह कर्म अशुभ कहलाते हैं-

करतूति पसू की मानस जाति।
लोक पचारा करै दिनु राति।।
बाहरि भेख अंतरि मलु माइआ।
छपसि नाहि कछु करै छपाइआ।।
बाहरि गिआन धिआन इसनान।
अंतरि बिआपै लोभु सुआनु।।[74]

इस प्रकार से ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग तथा भक्ति मार्ग में से सुखमनी के अनुसार भक्ति मार्ग सर्वश्रेष्ट मार्ग है। यह अवश्य है कि ज्ञान तथा कर्म के द्वारा भक्ति मार्ग में सहायता प्राप्त होती है। क्योंकि जब तक किसी विषय का ज्ञान नहीं होता तब तक व्यक्ति उसके अनुसार आचरण भी नहीं कर सकता। सांसारिक विषयों की वास्तविकता का ज्ञान होने पर ही परमात्मा के प्रति भक्ति सम्भव है।

रामानुज ने भी मुक्ति के साधन के रूप में 'भक्ति सहित ज्ञान' को स्वीकार

किया। उनके अनुसार भक्ति ज्ञान से भिन्न नहीं, भक्ति ईश्वर के प्रति प्रेम है। ईश्वर के प्रति प्रेम तभी हो सकता है जब उसके अतिरिक्त किसी अन्य विषय में प्रेम न हो। इसे निःस्वार्थ प्रेम या भक्ति कहते हैं। इस भक्ति को प्राप्त करने के लिए चित्त शुद्धि की आवश्यकता होती है। चित्त विशुद्ध तभी हो सकता है जब सांसारिक विषयों के प्रति अनास्था होती है और केवल ईश्वर में ही आस्था होती है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा है। चित्त के विशुद्ध होने पर ही संसार के प्रति विकर्षण तथा ईश्वर के प्रति आकर्षण सम्भव है। अतः रामानुज भक्ति को ज्ञान का ही रूप मानते हैं यथार्थ ज्ञान केवल ईश्वर के प्रति प्रेम है।[75]

भक्ति से विमुख व्यक्तियों को सुखमनी में निम्न स्थान दिया गया है तथा मनमुख कहा गया है। ऐसे व्यक्तियों को न तो इस जगत में सुख की प्राप्ति होती है क्योंकि वह इच्छाओं के कारण कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो पाते। डा.महिन्दर कौर गिल के अनुसार-नाम विमुख जीव सांप, कुत्ते जैसे जानवरों के समान हैं। नाम के बिना समस्त कर्म निष्फल हैं। नाम से विमुख जीव हमेशा बुरे कर्म करते हैं । ऐसे व्यक्तियों को इस लोक तथा परलोक कहीं पर भी स्थान नहीं मिल पाता।[76]

विवेकानन्द के अनुसार भक्ति मार्ग भावनाओं को सघन बनाकर ईश्वर को पा लेने का मार्ग है। भावनाओं में ऐसी शक्ति होती है कि वे मनुष्य में निहित शक्तियों को जागरूक कर सक्रिय कर देती हैं। अतः तार्किक रूप से यह सम्भावना तो स्पष्ट हो जाती है कि इन्हें प्रबलरूप में सक्रिय बनाने से ईश्वर की प्राप्ति भी सम्भव है। साधारण भावनाओं को प्रबल संवेगात्मक अनुभूतियों में परिणत किया जा सकता है, अतः साधारण प्रेम के भाव को परम भक्ति में परिणत किया जा सकता है, ईश्वरीय प्रेम में परिणत किया जा सकता है। यही भक्ति मार्ग का वैचारिक आधार है। विवेकानन्द का कहना है कि प्रेम या भक्ति मानव स्वभाव के सहज अंश हैं। अन्तर यही है कि प्रेम के सामान्य उदाहरणों में प्रेम का विषय सीमित वस्तुएं होती हैं, जिनमें स्थायित्व नहीं होता है, जो अन्ततः सत् भी नहीं है। इस प्रकार का प्रेम वस्तुतः शुद्ध प्रेम न होकर आकर्षण है, आसक्ति है। भक्ति मार्ग शुद्ध प्रेम का मार्ग है, जिसमें जिससे प्रेम है वह कोई सीमित वस्तु नहीं है, बल्कि स्वयं परमेश्वर है। इस प्रकार के प्रेम में सर्वप्रेम निहित है, हर वस्तु तथा हर तत्व के लिए प्रेम निहित है, क्योंकि यह सब कुछ का एकमात्र आधार ईश्वर के प्रति प्रेम है। भक्ति मार्ग मात्र भक्ति से ईश्वर प्राप्ति का मार्ग है। ईश्वर भक्ति के लक्ष्य तक पहुंचने के विभिन्न सोपानों को विवेकानन्द इस प्रकार मानते हैं- प्रथम स्तर सामान्य पूजा, प्रार्थना, आराधना आदि का स्तर है। यह भक्ति मार्ग का सरलतम स्तर है, क्योंकि यह सभी व्यक्तियों के लिए सुलभ है। साधारण मनुष्य के लिए ईश्वर के सूक्ष्म रूपों को समझना कठिन है, अतः वह स्थूल रूप में प्रारम्भ कर सकता है। इस स्तर पर मूर्तिपूजा, ईश्वरीय प्रतीक के रूप में प्रतिमाओं का महत्व है। इसके बाद के स्तर में पूजा का रूप अधिक व्यापक हो जाता है। इस स्तर में ईश्वर-प्रार्थना, ईश्वर का

नाम लेना, ईश्वरीय गुणों का कीर्तन, ईश्वर सम्बन्धी श्लोकों का भावनापूर्ण उच्चारण आदि जीवन के अंश बन जाते हैं। तीसरे स्तर में इस प्रकार की प्रार्थना के स्थान पर शान्त-आन्तरिक प्रार्थना का आविर्भाव हो जाता है। विवेकानन्द के अनुसार भक्त जब इस स्तर पर पहुंच जाता है, तब उसके लिए ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। उसकी समस्त भावनात्मक शक्ति ईश्वरीय अनुभूति से परिपूर्ण हो जाती है। इसके पश्चात अन्तिम स्तर पर भक्त और ईश्वर का अन्तर भी समाप्त हो जाता है। भक्त ईश्वर में लीन हो जाता है। यह एक विशिष्ट आन्तरिक अनुभूति है, जहां भक्त सांसारिकता से सर्वथा ऊपर उठ जाता है तथा ईश्वर में लीन होकर आत्म की परिणति पा लेता है। भक्ति मार्ग का चरम लक्ष्य यही है। विवेकानन्द के अनुसार भक्ति मार्ग सर्वसुलभ व सर्व प्रचलित मार्ग है। यह मानव स्वभाव के सहज रूप में अनुरूप है। इसकी सहजता एवं सरलता का एक स्पष्ट कारण यह भी है कि इसके लिए किसी विशेष प्रकार की क्षमता की आवश्यकता नहीं होती और न इसके लिए किसी उपकरण की अनिवार्यताा पर जोर दिया गया है। मानव के जीवन में भावना तथा संवेग का प्रमुख स्थान है, उसके इसी स्वाभाविक कृति पर आधृत भक्ति मार्ग स्पष्टतः सरलतम प्रतीत होता है।[77]

डा. सुरजीत सिंघ ने सुखमनी में नाम सिमरन की व्याख्या से यह निष्कर्ष निकाला है कि 'नाम से तात्पर्य अकाल पुरख का सृष्टि का आधार सर्वव्यापक शक्ति है, इस शक्ति को सिमरन के द्वारा ही अपने अन्दर अनुभव किया जा सकता है। सिमरन का भाव है-हर समय याद रखना। नाम सिमरन द्वारा सहज अवस्था प्राप्त होती है। साध, संत, ब्रह्म ज्ञानी सब नाम सिमरन का ही परिणाम हैं। सिमरन के लिए सन्यास की कोई आवश्यकता नहीं है, ग्रहस्थ के सब सुख भोगते हुए भी नाम सिमरन हो सकता है लेकिन इस सारे कार्य के लिए उस प्रभु की कृपा अत्यन्त आवश्यक है।'[78]

सन्दर्भ

1. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा , भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 332
2. भगवद्गीता, अध्याय 7, श्लोक 16
3. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 332-333
4. हृदयनारायण मिश्र, धर्म दर्शन परिचय,, पृष्ठ 315
5. दुर्गादत्त पाण्डेय, धर्म दर्शन का सर्वेक्षण, पृष्ठ 407
6. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 5, पृष्ठ 281
7. दुर्गादत्त पाण्डेय, धर्म दर्शन का सर्वेक्षण, पृष्ठ 407-408
8. वही, पृष्ठ 409
9. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 281

10. W. H. Mcleod, Guru Nanak and The Sikh Religion, p. 195
11. S. S. Kohli , Outlines of Sikh Thought, p. 94
12. परशुराम चतुर्वेदी , उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृष्ठ 414
13. राम सिंघ, गुरू नानक दा रहस्यवाद, पृष्ठ 27
14. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 275
15. वही, पृष्ठ 283
16. वही, पृष्ठ 282
17. वही, पृष्ठ 283
18. वही, पृष्ठ 274
19. वही, पृष्ठ 292
20. वही, पृष्ठ 286
21. वही, पृष्ठ 281
22. वही, पृष्ठ 281
23. वही, पृष्ठ 274
24. वही, पृष्ठ 285
25. वही, पृष्ठ 293
26. वही, पृष्ठ 262
27. वही, पृष्ठ 263
28. वही, पृष्ठ 262
29. वही, पृष्ठ 263
30. वही, पृष्ठ 296
31. वही, पृष्ठ 265
32. वही, पृष्ठ 265
33. वही, पृष्ठ 263
34. वही, पृष्ठ 287
35. वही, पृष्ठ 274
36. वही, पृष्ठ 290
37. वही, पृष्ठ 268
38. वही, पृष्ठ 289
39. वही, पृष्ठ 267
40. वही, पृष्ठ 282
41. वही, पृष्ठ 293
42. वही, पृष्ठ 271
43. वही, पृष्ठ 271
44. प्यारा सिंघ पदम, सुखमनी दर्शन, पृष्ठ 38

45. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 295
46. वही, पृष्ठ 270
47. वही, पृष्ठ 280
48. वही, पृष्ठ 270
49. S. S. Kohli, A Critical study of Adi Granth, p. 361
50. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 289
51. वही, पृष्ठ 293
52. वही, पृष्ठ 262
53. वही, पृष्ठ 293
54. वही, पृष्ठ 286
55. वही, पृष्ठ 287
56. वही, पृष्ठ 287
57. वही, पृष्ठ 264
58. वही, पृष्ठ 265
59. वही, पृष्ठ 266
60. वही, पृष्ठ 264
61. वही, पृष्ठ 262
62. वही, पृष्ठ 296
63. वही, पृष्ठ 296
64. वही, पृष्ठ 278
65. वही, पृष्ठ 296
66. वही, पृष्ठ 267
67. वही, पृष्ठ 265
68. वही, पृष्ठ 265
69. वही, पृष्ठ 265
70. वही, पृष्ठ 280
71. वही, पृष्ठ 274
72. वही, पृष्ठ 268
73. वही, पृष्ठ 266
74. वही, पृष्ठ 267
75. बद्रीनाथ सिंघ, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 526-527
76. महिन्दर कौर गिल, गुरू अर्जुन देव : जीवन ते बाणी, पृष्ठ 130
77. बसन्त कुमार लाल, समकालीन भारतीयदर्शन, पृष्ठ 42- 43
78. सुरजीत सिंघ , सुखमनी : एक आलोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 327

रहस्यवादी दृष्टिकोण

हमारे ज्ञान का साधन ज्ञानेन्द्रियां हैं तथा इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री को बुद्धि विश्लेषण करके ज्ञान के रूप में परिवर्तित करती है। इन्द्रियों की पहुंच दृश्यमान जगत तक है, आन्तरिक और अदृष्ट जगत उसके क्षेत्र में नहीं आता इसलिए अदृष्ट सत्ता से सम्बन्ध बनाना तथा उसके साथ अभेद हो जाना एक भेद भरी बात है, रहस्य की बात है। सामान्य रूप से हमारे ज्ञान का सम्बन्ध बौद्धिक चेतना से है लेकिन यह अतीन्द्रिय चेतना इससे बिल्कुल विलक्षण है। वह सर्वव्यापक सत्ता ऐसी है जो इन्द्रियगोचर नहीं है, फिर हमारी आत्मा का उससे सम्बन्ध जोड़ना भी एक अनोखी घटना है।

यदि हम ध्यान से देखें तो यह ज्ञात होता है कि एक तो यह दृष्टिमान संसार व्यापकता के कारण अपने आप में एक रहस्य है, फिर दृष्टिमान से अदृष्टकर्ता का अस्तित्व परम रहस्य है। इसके पश्चात जीव का उस सर्वव्यापक सत्ता से मेल, इस आत्मा का परमात्मा से एकाकार, अत्यन्त गूढ़ रहस्य। यह स्पष्ट है कि पदार्थक वस्तुओं के सम्बन्धों का तो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान सम्भव है लेकिन अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान अपने आप में एक गूढ़ रहस्य है। इस प्रकार से मुख्य रूप से यह समस्याएं मानव मन को उद्वेलित करती हैं-

➢ सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार से हुयी ?
➢ इस सृष्टि का कर्ता कौन है तथा क्या वह विश्वव्यापी है अथवा विश्वातीत है
➢ सृष्टिकर्ता तथा जीव में क्या सम्बन्ध है ?

मानवीय अनुभव को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है- इन्द्रियानुभव, सौन्दर्यानुभव, नैतिक अनुभव और आध्यात्मिक अनुभव। पशु के समान मनुष्य के जीवन के आरम्भ में उसका अनुभव भी इन्द्रियानुभव तक सीमित होता है। कुछ समय पश्चात उसके अनुभव का क्षेत्र व्यापक होने लगता है। इन्द्रियानुभव की परिधि से ऊपर उठकर उसे सुन्दर- असुन्दर, शुभ-अशुभ तथा धर्म-अधर्म का बोध भी होने लगता है। यही सौन्दर्यात्मक, नैतिक और धार्मिक अनुभव मनुष्य की विशिष्टताएं हैं, जो उसे पशु से भिन्न करती हैं। मनुष्य सुन्दर भोजन, वस्त्र और रहने का स्थान चाहता है। समाज में व्यवस्थित ढंग से जीवन यापन के लिए वह नैतिक मूल्यों का सृजन, नैतिक प्रतिमानों की स्थापना तथा नैतिक कर्मों का अनुमोदन करता है। दुष्टों के प्रति क्षोभ और सन्तों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना उसका स्वभाव बन जाता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जड़ जगत से लेकर मानव जगत तक निरन्तर विकास का क्रम देखकर वह सहज ही अनुभव करने लगता है कि पूर्ण सत्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व अवश्य है। यही विचार मनुष्य में आध्यात्मिक भाव को जगाते हैं जिसकी अभिव्यक्ति वह प्रार्थना, साधना और कर्मकाण्ड में करता है। अगाध श्रद्धा, अपूर्व निष्ठा और सर्वार्पण भाव रहस्यानुभव की विशेषताएं हैं।

रहस्यवाद शब्द अंग्रेजी शब्द Mysticism का रूपान्तर है। अंग्रेजी शब्द Mystic की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'मिस्टेस' से हुई है जिसका अर्थ है- जीवन तथा मृत्यु के मर्म से सम्बन्धित गूढ़ तत्व ज्ञान। अतः मिस्टिसिज्म गुह्य ज्ञान का अर्थबोधक है। मिस्टिसिज्म शब्द यूनानी भाषा के 'Muo' शब्द से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है- मौन रहना।

भारतीय योग पद्धति में यही समाधि का सध जाना है। अनुभूति की गहराई तक पहुंचने के बाद साधक मौन हो जाता है। यह दिव्य ज्ञान है जिसको व्यक्त करने में वाणी समर्थ नहीं है। बीसवीं सदी में हेनरी बर्गसां, विलियम जेम्स, रूडाल्फ ऑटो, स्टेस आदि का नाम रहस्यवाद के सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रहस्यवादियों ने अपने-अपने ढंग से रहस्यवाद को परिभाषित किया है। रहस्यवाद की परिभाषाओं के तीन आधार हैं- ज्ञान, भाव तथा क्रिया। प्रो. केयर्ड के अनुसार- " यह मन की विशिष्ट अभिवृत्ति है, जिसमें आत्म परमात्मैक्य भाव में अन्य सभी सम्बन्ध विलीन हो जाते हैं।"[1]

अण्डरहिल के अनुसार- " रहस्यवाद एक जीवन्त प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने पूर्ण प्रेम को ईश्वर के प्रति प्रकट करता है। यह निरपेक्ष सत्ता के साथ चिन्मय सम्बन्ध स्थापित करने की कला है।"[2] प्रो. ब्राइटमैन के अनुसार-" रहस्यवाद दैवी सत्ता की साक्षात अनुभूति है।"[3] एटकिन्सन के अनुसार- "साधारणतया रहस्यवाद अव्यवस्थित तथा अस्पष्ट रूप से धर्म का पर्याय माना जाता है।"[4] हॉकिंग ने रहस्यवाद को आराधना और आराधना को प्रार्थना का पर्याय माना है।[5] डा. राधाकृष्णन ने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार से दी है- "रहस्यवाद एक अनुशासन है जिसके द्वारा आध्यात्मिक तत्व की प्राप्ति होती है।"[6]

रहस्यवाद में धर्म के तीनों पहलू विद्यमान हैं। उपासक उपास्य से साक्षात्कार होने के लिए कुछ प्रयास करता है जिससे धर्म की क्रियात्मक पहलू की सन्तुष्टि होती है। इसके पश्चात रहस्यवाद में एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती है जिससे भावात्मक पहलू की पूर्ति होती है। इसके साथ-साथ रहस्यवाद में ईश्वर का ज्ञान होता है। जिससे धर्म की ज्ञानात्मक पहलू की सन्तुष्टि हो जाती है।

रहस्यात्मक अनुभूति से व्यक्ति के जीवन में अदभुत परिवर्तन होता है। जिस प्रकार पारस के स्पर्श से लोहा सोने में परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार रहस्यात्मक अनुभूति प्राप्त होने से व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन बदल जाता है। रहस्यात्मक अनुभूति के फलस्वरूप रहस्यवादी में प्रेम, करूणा, क्षमा, आशा, शान्ति आदि गुणों का विकास होता है तथा क्रोध, राग-द्वेष, भय, घ्रणा आदि विकारों का निष्कासन होता है।

किसी ऐसे व्यक्ति को भाषा अथवा किसी अन्य माध्यम से इस रहस्यात्मक अनुभव का ज्ञान नहीं कराया जा सकता जिसने स्वयं इसे प्राप्त नहीं किया है। इसी कारण से इस अनुभव को 'अवर्णनीय' अथवा अनिर्वचनीय कहा जाता है। इस दृष्टि से यह अनुभव ज्ञान से भिन्न है जिसे भाषा के माध्यम से दूसरों तक पहुंचाया जा सकता है। वास्तव में रहस्यात्मक अनुभव की तुलना सुख-दुःख सम्बन्धी भावनाओं के साथ की जा सकती है जो अनुभवकर्ता तक ही सीमित होती है और जिनका वह शब्दों में वर्णन नहीं कर पाता। कोई व्यक्ति रहस्यात्मक अनुभव को तभी समझ सकता है जब वह स्वयं प्रत्यक्ष रूप से यह अनुभव प्राप्त करे। जेम्स महोदय ने रहस्यवाद को अकथनीय कहा है।

सुखमनी के अनुसार यह दृश्यमान संसार विविधता और व्यापकता के

कारण अदभुत है। जिसमें लाखों, करोड़ों किस्म के जीव जन्तु तथा प्राणी विचरण करते दिखायी देते हैं।

कई कोटि पवण पाणी बैसंतर।
कई कोटि देस भू मंडल।।
कई कोटि ससीअर सूर नख्यत्र।
कई कोटि देव दानव इंद्र सिरि छत्र।।[7]

सूर्य, चन्द्र, तारे, धरती, वनस्पति, ब्रह्माण्ड आदि सभी कुछ अदभुत है-

कई कोटि खाणी अरू खंड।
कई कोटि अकास ब्रहमंड।।[8]

सृष्टि अनन्त है तथा सृष्टिकर्ता भी अनन्त है। सुखमनी में निरंकार को अनन्त कहने के अनेक प्रमाण हैं-

कोइ न जानै तुमरा अंतु।
ऊचे ते ऊचा भगवंत।।[9]

प्रभु अनन्त है, सबसे ऊंचा है, अपने आप तक स्वयं ही पहुंच सकने वाला है-

बहु बेअंत ऊच ते ऊचा।
नानक आपस कउ आपहि पहूचा।।[10]

सृष्टि की अनन्तता की विस्तृत वर्णन दसवीं अष्टपदी में हुआ है। पहली पउड़ी में उत्तम जीवों की अनन्तता का वर्णन है-

कई कोटि होए पूजारी।
कई कोटि आचार बिउहारी।।
कई कोटि भए तीरथवासी।
कई कोटि बन भ्रमहि उदासी।।[11]

दूसरी पउड़ी में अहंकारी व निम्न कोटि के जीवों का विवेचन किया गया है-

कई कोटि भए अभिमानी।
कई कोटि अंध अगिआनी।।
कई कोटि किरपन कठोर।
कई कोटि अभिग आतम निकोर।।[12]

तीसरी पउड़ी में यह अनन्तता जानवरों, वृक्षों, चांद, सूरज तक जा पहुंचती है तथा सातवीं पउड़ी तक इसमें ब्रह्माण्ड भी शामिल हो जाता है। ऐसे महान दृश्य को जब मनुष्य अपनी कल्पना की दृष्टि से देखता है तो स्वाभाविक रूप से उसके लिए आश्चर्य या रहस्य का विषय होता है।

डा. जगबीर सिंघ का मत है कि ईश्वरवादी धर्मों में ईश्वर तथा सृष्टि के परस्पर सम्बन्धों को मुख्य तौर पर तीन प्रकार से समझा गया है। एक यह कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता है लेकिन बाहर कहीं उच्च मण्डल में रहता है जहां मनुष्य की पहुंच नहीं हो सकती। यह ईश्वर सृष्टि की रचना करके उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। दूसरा यह कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता है अतः इस में व्याप्त है। इस सृष्टि से बाहर उसका अस्तित्व नहीं। तीसरा यह कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता है, इसमें बसता है लेकिन इस में सीमित नहीं है। यह विश्वव्यापी तथा विश्वातीत दोनों है।[13]

उपनिषद् दर्शन में जगत को सत्य माना गया है क्योंकि जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म ही जगत की उत्पत्ति का कारण है। जगत ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी से पलता है और अन्त में उसी में समा जाता है। सृष्टि रचना सम्बन्धी वर्णन वृहदारण्यक उपनिषद् में हुआ है कि जैसे अग्नि से चिंगारी निकलती है वैसे ही आत्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण भिन्न-भिन्न रूप में उत्पन्न होते हैं।[14] ब्रह्म सृष्टि की रचना करता है और उसी में प्रविष्ट हो जाता है। देश, काल, प्रकृति आदि ब्रह्म का आवरण है। क्योंकि सभी में ब्रह्म व्याप्त है। जिस प्रकार नमक पानी में घुल कर सारे पानी को व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार ब्रह्म पदार्थों के अन्दर व्याप्त हो जाता है। उपनिषदों में कहीं भी विश्व को भ्रमजाल नहीं कहा गया है। ब्रह्म से जगत का विकास का क्रम भी उपनिषदों में निहित है। विकास का क्रम है कि सर्वप्रथम ब्रह्म से आकाश का विकास होता है, आकाश से वायु का, वायु से अग्नि का विकास होता है। इसमें जगत के पांच स्तरों का भी उल्लेख है जिसे 'पञ्चकोष' कहा जाता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय को पञ्चकोष कहा गया है। भौतिक पदार्थ को अन्नमय, पौधों को प्राणमय, पशुओं को मनोमय, मनुष्य को विज्ञानमय तथा विश्व के वास्तविक स्वरूप को आनन्दमय कहा गया है।[15] मुण्डक उपनिषद में वर्णन है कि जिस तरह मकड़ी जाले को बुनती है, जैसे पृथ्वी में वनस्पति पैदा होती है, वैसे ही अक्षर ब्रह्म से यह विश्व प्रकट हुआ है।[16] ब्रह्म तथा जीव का जो स्वरूप उपनिषदों में वर्णित है, उसी सिद्धान्त का सुखमनी में गुरू अर्जुन देव जी ने भी उल्लेख किया है। आत्मा तथा परमात्मा का अभेद सुखमनी के ब्रह्म ही विशेषता है-

ब्रहम महि जनु जन महि पारब्रहमु।
एकहि आपि नही कछु भरमु।।[17]

सुखमनी का मुख्य उद्देश्य है मनुष्य की अन्तर्तात्मा का साक्षात करके उसको परम तत्व या ब्रह्म के रूप में तदरूप करना है-

मन तन नामि रते इक रंगि।
सदा बसहि पारब्रहम कै संगि।।
जिउ जल महि जल आइ खटाना।
तिउ जोती संगि जोति समाना।।[18]

गीता में भी जगत की उत्पत्ति ब्रह्म से ही दर्शायी गयी है। ब्रह्म को समस्त रचना का अविनाशी बीज बताया गया है-

"बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।[19]

गीता विश्व को सत्य मानती है क्योंकि यह ईश्वर की सृष्टि है। ईश्वर विश्व का निर्माण माया से करता है। ईश्वर की असीम शक्ति को जिससे वह विश्व का निर्माण करता है, गीता में माया कहा गया है। ईश्वर विश्व का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों है। ईश्वर केवल सृष्टा ही नहीं है बल्कि पालनकर्ता तथा संहारकर्ता भी है। गीता में कहा गया है-

"पिताहमस्यजगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च।।[20]

वेदों में जगत को सत्य माना गया है। विश्व पूर्णतः व्यवस्थित है। यद्यपि देवताओं को अनेक माना गया है फिर भी जिस विश्व पर वे शासन करते हैं, वह एक है। विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैदिक मन्त्रों में कहा गया है कि ईश्वर ने विश्व का निर्माण पूर्वस्थित जड़ के द्वारा किया है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि की क्रिया का वर्णन मिलता है। जिसके अनुसार सृष्टि का आरम्भ न असत्, न सत्, न आकाश और न ही अन्तरिक्ष ही था। मृत्यु भी नहीं थी। केवल वह 'एक' था। सर्वत्र अन्धकार था, जल था किन्तु प्रकाश नहीं था। तपस् से उस एक की उत्पत्ति हुयी। तपस् एक अव्यक्त चेतन था। इससे ही सृष्टि हुयी। तपस् से ज्ञानशक्ति इच्छा और क्रियाशक्ति का प्रकाशन हुआ। वेद के अन्य सूक्त में अग्नि से जगत की उत्पत्ति मानी गयी है। इसके अतिरिक्त सोम से पृथ्वी, आकाश, दिन, रात, जल आदि की उत्पत्ति मानी गयी है।[21]

जैन मत वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्य संयोग से इस संसार की उत्पत्ति मानते हैं। द्रव्यों के गुण परिवर्तनशील नहीं होते हैं। अतः इस दृष्टि से संसार नित्य है। किन्तु उस के पर्याय बदलते रहते हैं, अतः इस दृष्टि से संसार अनित्य तथा परिवर्तनशील है। इस प्रकार से जैन मतावलम्बी संसार को एक दृष्टि से नित्य तथा दूसरी दृष्टि से अनित्य मानते हैं।[22]

सांख्य मत के अनुसार पुरूष तथा प्रकृति दो मूल तत्व हैं जिनके संयोग से जगत की उत्पत्ति होती है। प्रकृति के तीन गुणों की साम्यावस्था पुरूष के संयोग होने से नष्ट होती है। प्रकृति ही वह तत्व है जिससे संसार की समस्त वस्तुएं विकसित होती हैं। प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम है। प्रकृति के गुण निरन्तर प्रगतिशील रहते है, चाहे वह किसी भी अवस्था में रहें। जब प्रकृति शान्त अवस्था में रहती है तब भी प्रकृति के गुणों में परिवर्तन होता है। इस समय प्रकृति में सरूप परिणाम परिलक्षित होता है। यह प्रकृति के प्रलय की अवस्था है। इस अवस्था में प्रकृति किसी वस्तु का निर्माण करने में असमर्थ रहती है। विकासवाद की प्रकिया तभी आरम्भ हो सकती है जब प्रकृति में विरूप परिणाम हो। परन्तु विरूप परिणाम के लिए प्रकृति तथा पुरूष में संयोग परमावश्यक है। सांख्य के अनुसार सृष्टि के विकास का क्रम इस प्रकार है- सर्वप्रथम प्रकृति से महत् तत्व का आविर्भाव होता है। महत् इस विश्व का महान अंकुर है। पुरूष का चैतन्य प्रकाश महत् के सत्व गुण पर पड़ता है जिससे वह भी चेतन प्रतीत होता है। अतः महत् को बुद्धि भी कहते हैं। बुद्धि का रूपान्तर अहंकार में होता है। आत्मा अहंकार या अभिमान का संयोग होने से स्वयं को कर्त्ता समझता है। अहंकार में जब सत्व का बाहुल्य होता है तो उससे पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों तथा मन की सृष्टि होती है। मन उभयेन्द्रिय है, क्योंकि इस के द्वारा ज्ञान तथा कर्म दोनों सम्भव होते हैं। अहंकार में जब तम की प्रचुरता होती है तब उससे तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध पांच तन्मात्र हैं। पांच तन्मात्रों से पांच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से अग्नि, रस से जल तथा गन्ध से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से सांख्य के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि का विकास इन पच्चीस तत्वों के द्वारा माना गया है जो प्रकृति से आरम्भ होकर तन्मात्र पर समाप्त हो जाता है।[23] सांख्य के अनुसार कार्य कारण में विद्यमान रहता है अर्थात कार्य कारण

में अनभिव्यक्त रूप में रहता है। कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है अव्यक्त से व्यक्त होना। इस प्रकार से न किसी की उत्पत्ति होती है तथा न ही किसी का विनाश होता है। केवल स्वरूप में परिवर्तन होता है। इस को सत्कार्यवाद का सिद्धान्त कहा जाता है।

सुखमनी में सांख्य के पुरूष तथा प्रकृति के द्वैतवाद को स्वीकार नहीं किया गया है। बल्कि एक ही तत्व को स्वीकार किया गया है। सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को सुखमनी में माना गया है कि कारण अपने कार्य में सदा विद्यमान रहता है-

जैसा सा तैसा द्रिसटाइआ।
अपुने कारज महि आपि समाइआ।[24]

न्याय-वैशेषिक दर्शन विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सृष्टिवाद के सिद्धान्त को अपनाता है। वैशेषिक के मत के अनुसार विश्व का निर्माण परमाणुओं से हुआ है। ये परमाणु चार प्रकार के हैं - पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के परमाणु। इसी कारण से वैशेषिक का सृष्टि सम्बन्धी मत परमाणुवाद कहलाता है। परमाणु शाश्वत होते हैं। इनकी न तो उत्पत्ति होती है तथा न ही विनाश। निर्माण का अर्थ है- विभिन्न अवयवों का संयुक्त हो जाना और विनाश का अर्थ है- विभिन्न अवयवों का बिखर जाना। परमाणु निरवयव हैं, अतः यह उत्पत्ति तथा विनाश से परे हैं। वैशेषिक का परमाणुवाद जगत के उसी भाग की व्याख्या करता है जो अनित्य है। देश, काल, आत्मा, मन और भौतिक परमाणुओं की न तो उत्पत्ति होती है तथा न ही विनाश ही होता है। अतः वैशेषिक का सृष्टि सम्बन्धी तथा प्रलय सम्बन्धी सिद्धान्त अनित्य द्रव्यों का सृष्टि और प्रलय का सिद्धान्त है। वैशेषिक के मतानुसार किसी वस्तु के निर्माण में दो प्रकार के कारणों की आवश्यकता होती है- उपादान कारण और निमित्त कारण। विश्व का उपादान कारण चार प्रकार के परमाणुओं को माना जाता है। विश्व का निमित्त कारण ईश्वर को कहा जाता है क्योंकि वह जीवों को उनके अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिए परमाणुओं में क्रिया प्रवर्तित करता है। यद्यपि सृष्टि परमाणुओं के द्वारा होती है, फिर भी विश्व में क्रम और व्यवस्था देखने को मिलती है। इसका कारण वैशेषिक का आध्यात्मिक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। विश्व में जो व्यवस्था देखने को मिलती है उसका कारण जीवात्माओं का पूर्व का कर्म है। अदृष्ट नियम से प्रभावित होकर ही ईश्वर सृष्टि का कार्य सम्पादित करता है। जीवात्मा अपनी बुद्धि, कर्म और ज्ञान के अनुसार ही सुख और दुःख भोगते हैं। जीवात्माओं का सुख-दुःख भौतिक नियम के अधीन नहीं है, बल्कि कर्म नियम के अधीन है। ईश्वर जीवों के सुख-दुःख के लिए, उनके धर्म और अधर्म के अनुसार परमाणुओं की सहायता से सृष्टि करता है।[25]
अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। जगत मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं। शंकर ने जगत को रस्सी में दिखायी देने वाले सर्प के समान माना है। जिस प्रकार से रस्सी में दिखायी देने वाले सर्प का आधार रस्सी है उसी प्रकार से विश्व का आधार ब्रह्म हैं। जिस प्रकार से सर्प रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है उसी प्रकार से जगत ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है और उसके रूप का विक्षेप जगत यथार्थ प्रतीत होने लगता है। शंकर के अनुसार सम्पूर्ण जगत ब्रह्म का विवर्त मात्र है।

शंकर ने त्रिविध सत्ताओं को स्वीकार किया है-

➢ प्रातिभासिक सत्ता- इसके अन्तर्गत वह विषय आते हैं जो स्वप्न अथवा भ्रम में उपस्थित होते हैं। यह क्षण भर के लिए ही होते हैं। इन का खण्डन जागृत अवस्था के अनुभवों से हो जाता है।

➢ व्यावहारिक सत्ता- इसके अन्तर्गत वह वस्तुएं आती हैं जो हमारी जागृत अवस्था में सत्य प्रतीत होती हैं। यह व्यावहारिक जीवन को सफल बनाने में सहायक होती हैं।

➢ पारमार्थिक सत्ता- यह शुद्ध सत्ता है जो न बाधित होती है तथा न जिसके बाधित होने की कल्पना की जा सकती है।

शंकर के मत के अनुसार जगत को व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत रखा जा सकता है। जगत व्यावहारिक दृष्टिकोण से पूर्णतः सत्य है। जगत तभी असत्य होता है जब इसकी व्याख्या पारमार्थिक दृष्टि से की जाती है।[26] विश्व ईश्वर की सृष्टि है। सृष्टि की विपरीत क्रिया को प्रलय कहा जाता है। सृष्टि और प्रलय का चक्र निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। ईश्वर विश्व का निर्माण माया से करता है। माया ईश्वर की शक्ति है। जगत ईश्वर से उत्पन्न होता है और पुनः ईश्वर में ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार से ईश्वर जगत का सृष्टा, पालनकर्त्ता और संहर्त्ता है। वह जीवों के भोग के लिए भिन्न-भिन्न लौकिक वस्तुओं का निर्माण करता है।[27] शंकर एकतत्ववादी है क्योंकि वह ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मानते हैं। माया, अध्यास, भ्रम, अविद्या आदि सभी समानार्थक माने गए हैं। शंकर माया के द्वारा ही विश्व की व्याख्या करते हैं। सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत को वह ब्रह्म का विकार मानते हैं। परन्तु ब्रह्म एक है, वह विश्व के नाना रूपों को कैसे उत्पन्न करता है? ब्रह्म निर्गुण है, उससे सगुण संसार की उत्पत्ति कैसे होती है? यदि वह सृष्टि करता है तो निर्गुण कैसे है? इन सभी समस्याओं का निदान मायावाद के सहारे ही होता है। माया के कारण ही निर्गुण और निर्विकार ब्रह्म सगुण ईश्वर होकर सृष्टिकर्ता बनता है। निराकार ब्रह्म माया ही शक्ति के बिना जगत की सृष्टि नहीं कर सकता। अतः माया ईश्वर की शक्ति है। ईश्वर को जगत का निमित्त और उपादान दोनों कारण माना गया है। माया शक्ति के कारण ही एक ईश्वर नानारूपात्मक जगत रूप में प्रतीत होता है। अतः माया के कारण ही ईश्वर का सृष्टिकर्ता होना सिद्ध होता है।

विशिष्टाद्वैतवाद के अन्तर्गत रामानुज ने अपने जगत विचार को कारण सिद्धान्त पर आधारित किया है। रामानुज का कारण-कार्य सिद्धान्त सत्कार्यवाद कहलाता है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य कारण का केवल रूपान्तर है। एक ही वस्तु की एक अवस्था का नाम कारण है तथा दूसरी अवस्था का नाम कार्य है। कार्य कारण में अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी रहता है। अतः उत्पत्ति तो केवल रूपान्तर है। रामानुज के अनुसार जगत ब्रह्म का रूपान्तर है, परिणाम है। इसी कारण से इनका मत ब्रह्म परिणामवाद कहलाता है। रामानुज ब्रह्म की दो अवस्थाएं मानते हैं- कारणावस्था तथा कार्यावस्था। कार्यावस्था ही संसार है। संसार रूपी कार्य की अवस्था में चित और अचित नाम रूपधारी बनते हैं। प्रलय की अवस्था में यह बीजरूप होकर कारण ब्रह्म में लीन रहते हैं। यह सूक्ष्म अवस्था है। इस प्रकार से जगत तो ब्रह्म कारण का चित और अचित में रूपान्तर है। ब्रह्म सत् है, अतः जगत भी सत् है। सत् कारण का ही सत्

कार्य सम्भव है।[28]

दार्शनिक विचारधारा के अनुसार संसार में हमें चार प्रकार के पदार्थ मिलते हैं- 1. जड़ 2. जीव 3. चेतन 4. आत्म-चेतन। ईंट पत्थर आदि जड़ हैं। पेड़-पौधे सजीव हैं, किन्तु उनमें चैतन्य का अभाव है। पशु-पक्षी सजीव हैं और चेतन भी हैं। आत्म-चेतन उसे कहते हैं जिसे अपनी चेतना की चेतना रहती है। मनुष्य आत्म-चेतन है। इसी कारण से वह संसार की उत्पत्ति का कारण जानने के लिए व्यग्र होता है। सृष्टिवाद के अनुसार सृष्टि के लिए सृष्टा आवश्यक है। आरम्भ में केवल ईश्वर ही रहता है और उसके अन्दर सृष्टि करने की इच्छा होते ही सृष्टि कार्य सम्पन्न होता है। चूंकि विश्व के सभी पदार्थों की सृष्टि ईश्वर ने की है इसलिए उनके पारस्परिक भेद मौलिक और सारभूत हैं। सृष्टि की प्रक्रिया के विषय में सृष्टिवादियों में मतभेद है। एक प्रकार का सृष्टिवाद वह है जो यह मानता है कि ईश्वर सृष्टि का केवल निमित्त कारण है। ईश्वर के अतिरिक्त जड़ तत्व भी हैं जो विश्व का उपादान कारण है। अर्थात ईश्वर उस मूर्तिकार के समान है जो दी गयी सामग्री पर रूप को आरोपित करता है। वैशेषिक दर्शन यह मानता है कि ईश्वर के साथ-साथ जड़ परमाणु भी परमार्थ है और उन्हें ही भिन्न-भिन्न रूप में संगठित करके ईश्वर भौतिक पदार्थों की सृष्टि करता है। दूसरे प्रकार का सृष्टिवाद यह मानता है कि विश्व का एकमात्र कारण ईश्वर है। उसके अतिरिक्त कोई पदार्थ परमार्थ नहीं है। ईश्वर के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ को विश्व के उपादान कारण के रूप में मानने का तात्पर्य ईश्वर को सीमित करना अथवा उसकी सर्वशक्तिमता को अस्वीकार करना है। तीसरे प्रकार का सृष्टिवाद यह मानता है कि विश्व का एकमात्र कारण ईश्वर है और ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं है। विश्व का उपादान और निमित्त कारण दोनों ईश्वर है। सैद्धान्तिक दृष्टि से ईश्वर को परम तत्व तथा व्यावहारिक दृष्टि से परम साध्य कहा जाता है। इसलिए संसार के साथ उसका सम्बन्ध होना आवश्यक है। वास्तव में ईश्वर तथा विश्व के सम्बन्ध के अभाव में न तो विश्व की व्याख्या हो सकती है, न ही धार्मिक भावना की तृप्ति हो सकती है।

सर्वेश्वरवाद धार्मिक सिद्धान्त का वह रूप है जिसके अनुसार ईश्वर ही एकमात्र परमार्थ सत्ता है। ईश्वर अनादि तथा अनन्त है, अर्थात किसी विशेष समय पर में न तो इसकी उत्पत्ति हुयी है तथा न ही इसका अन्त हो सकता है। यह सर्वव्यापक है।

सर्वेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर और विश्व का सम्बन्ध अभिन्न है। ईश्वर विश्व के बिना उस कारण के समान है जो कार्यरहित है, तथा विश्व ईश्वर के बिना उस कार्य के समान है जो कारण रहित है। अर्थात ईश्वर और विश्व में अविच्छेद्य सम्बन्ध है। ईश्वर विश्व में पूर्णतः व्याप्त है अर्थात विश्वव्यापी है। ईश्वर ने संसार की उत्पत्ति किसी काल विशेष में नहीं की है। दोनों का सम्बन्ध काल निरपेक्ष है। ईश्वर विश्व का उपादान कारण है। उपादान कारण वह होता है जो कार्य में हमेशा व्याप्त रहता है। ईश्वर विश्व के रूप में स्वयं को प्रकाशित करता है और यह प्रकाशन ईश्वर की प्रकृति में ही निहित है।

केवलनिमित्तेश्वरवाद (Deism) के अनुसार विश्व एक मशीन की भांति है।

विश्व के अन्तर्गत जड़ पदार्थ और चेतन आत्मा दोनों हैं। ईश्वर ने विश्व के जड़ पदार्थ एवं चेतन आत्मा अर्थात सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि की है परन्तु सृष्टि के पश्चात उसने विश्व से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है। विश्व का संचालन उसके अपने नियमों द्वारा ही होता है। इन नियमों का संस्थापक ईश्वर है। कभी-कभी विश्व में त्रुटियां दिखायी देती हैं तब ईश्वर आकर विश्व में सुधार करके चला जाता है। यद्यपि ईश्वर ने विश्व की रचना इस प्रकार से की है कि इसमें त्रुटि की सम्भावना अत्यन्त कम है। केवलनिमित्तेश्वरवाद के अनुसार संसार का निर्माण काल विशेष में होता है। सृष्टि के पूर्व संसार का अभाव रहता है। अतः संसार अनादि नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत की स्वतन्त्र सत्ता है। जड़ पदार्थ या चेतन आत्मा जो जगत में निहित है, ईश्वर की अपेक्षा नहीं रखते। जड़ पदार्थ में प्रचुर भौतिक शक्ति अन्तर्भूत है जिसके फलस्वरूप वे स्वतः परिचालित होते रहते हैं। चेतन आत्माओं में इच्छा स्वातन्त्र्य है जिसके फलस्वरूप वे अपनी इच्छा के अनुसार अपना आचरण भी बना सकते हैं। अर्थात विश्व तथा ईश्वर एक दूसरे से स्वतन्त्र एवं भिन्न हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर विश्वातीत है।[29] इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर निरपेक्ष, असीम तथा शाश्वत रूप से चेतन है। ईश्वर संसार का निमित्त कारण है। ईश्वर ने संसार का निर्माण शून्य से किया है, इसलिए विश्व का उपादान कारण कुछ भी नहीं है। ईश्वर ने संसार का निर्माण इसलिए किया है कि भिन्न-भिन्न पदार्थों को अस्तित्व और सुख प्राप्त हो। अतः सृष्टि उद्देश्यहीन नहीं है। जिस प्रकार किसी भी यन्त्र का अस्तित्व यन्त्र बनाने वाले से पृथक रहता है, उसी प्रकार से ईश्वर सृष्टि का निर्माण करके उससे पृथक हो जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि ईश्वर संसार का मात्र सृष्टा है, रक्षक या पालनकर्ता नहीं है।

निमित्तोपादानेश्वरवाद (Panentheism) की मान्यता है कि सम्पूर्ण जगत ईश्वर में है अथवा सम्पूर्ण जगत में ईश्वर व्याप्त है। संसार में कोई भी पदार्थ ईश्वर से अलग नहीं है। सृष्टि का कर्ता होने के कारण वह सबमें व्याप्त है, परन्तु उसकी सत्ता सान्त संसार में समाप्त नहीं हो जाती। उसकी सत्ता संसार के परे भी है। अतः ईश्वर विश्वव्यापी तथा विश्वातीत दोनों है। ईश्वर विश्व का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों है।[30] विश्व ईश्वर की सृष्टि है। ईश्वर ने विश्व का निर्माण शून्य से नहीं किया है। संसार में जड़ तथा चेतन दो प्रकार के पदार्थ हैं। विश्व ईश्वर की अभिव्यक्ति है। ईश्वर विश्व पर निर्भर नहीं करता है, क्योंकि ईश्वर पूर्णतः स्वतन्त्र है।

ईश्वरवाद (Theism) एक सिद्धान्त है जो ईश्वर को अनन्त और व्यक्तित्वपूर्ण मानता है। प्रो. फ्लिन्ट ने ईश्वरवाद को इस प्रकार से परिभाषित किया है- ' वह धर्म, जिसमें एक व्यक्तित्वपूर्ण तथा पूर्ण ईश्वर आराधना का विषय रहता है, ईश्वरवादी धर्म कहा जाता है।'[31]

ईश्वरवाद के अनुसार यह संसार ईश्वर की सृष्टि है। ईश्वर विश्व में व्याप्त है तथा विश्व ईश्वर पर आश्रित है तथा कभी विश्व से अलग नहीं हो सकता। यद्यपि ईश्वर विश्व में व्याप्त है फिर भी वह विश्व में समाप्त नहीं हो जाता बल्कि विश्व से परे अपनी सत्ता कायम रखता है। विश्व का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। ईश्वर विश्व का सृष्टा होने के साथ ही साथ पालक तथा रक्षक भी है।[32] वह सबका कारण होते हुए भी

स्वयं अकारण है, सबका आधार होते हुए भी स्वयं निराधार है।[33]
वह विश्वव्यापी तथा विश्वातीत दोनों है। वह सृष्टि का निमित्त तथा उपादान कारण दोनों है। सृष्टि और सृष्टा में अविच्छेद्य सम्बन्ध है। सृष्टि अनादि है, इसका आरम्भ कब हुआ, इसे नहीं बताया जा सकता। ईश्वर जगत का रचयिता है, परन्तु उसने मानव को संकल्प की स्वतन्त्रता प्रदान की है।

पाश्चात्य दर्शन में देकार्त का जगत विचार भी ईश्वर पर ही आधारित है। देकार्त ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानते हैं। यदि ईश्वर सत्य है तो उसकी कृति या कार्य को भी सत्य मानना होगा। देकार्त के अनुसार हम रूप, रस, गन्ध आदि का स्पष्ट रूप से अनुभव करते हैं। इन रूप, रस आदि की संवेदनाएं वाह्य विषयों से ही उत्पन्न होंगी। अतः वाह्य विषयों की सत्ता अवश्य है। हमें सुख, दुःख, भूख, प्यास आदि का अनुभव होता है। इससे यह स्पष्ट है कि मेरे पास शरीर है, अन्यथा यह संवेदनाएं उत्पन्न नहीं होंगी। वाह्य विषयों को न मानना ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास करना है। अतः ईश्वर में हमारा विश्वास सृष्टि को सिद्ध करता है।

पाश्चात्य जर्मन दार्शनिक काण्ट जो कि ज्ञान को अनुभव निरपेक्ष संश्लेषणात्मक निर्णय मानते हैं अर्थात बुद्धिवादी तथा अनुभववादी विचारधारा की समीक्षात्मक व्याख्या के आधार पर अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। उनका यह मानना है कि सम्पूर्ण वस्तुओं की सृष्टि तो केवल कल्पना मात्र है, प्रत्यय मात्र है। इस प्रत्यय को जब हम वस्तु मान लेते हैं तो विरोधों का जन्म होता है। वास्तव में सृष्टि विज्ञान अनुभवातीत है। जब हम इसे अनुभव का विषय मान लेते हैं तो सर्वथा विरोधी निर्णय हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। काण्ट इन विरोधों को सृष्टि विज्ञान सम्बन्धी विरोध (Antinomies) कहते हैं। काण्ट के अनुसार ज्ञान में सत्यता इन्द्रिय संवेदना से आती है। इन्द्रिय संवेदना ही ज्ञान की सामग्री है। तत्व मीमांसा के अतीन्द्रिय विषय ईश्वर, आत्मा, विश्व आदि केवल विचार हैं। इनका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु भ्रमवश हम इन विचारों को ही संवेदन रूप मान लेते हैं तथा हमारी बुद्धि इनमें भी बुद्धि के विकल्पों को लागू करना चाहती है। परन्तु जीव, जगत और ईश्वर केवल प्रत्यय मात्र हैं तथा केवल प्रत्यय ज्ञान के विषय नहीं बन सकते। बुद्धि के विषय न होने के कारण हमें इनका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, बल्कि केवल ज्ञानाभास होता है। अतीन्द्रिय होने के कारण यह विषय अज्ञेय हैं।

सुखमनी में जीव तथा जगत को स्वतन्त्र नहीं माना गया है, बल्कि यह ब्रह्म के अधीन है। जीव परमात्मा का अंश है-

जो किछु करै सु प्रभ कै रंगि।
सदा सदा बसै हरि संगि।।
सहज सुभाइ होवै सो होइ।
करणैहारू पछाणै सोइ।।[34]

बौद्ध मत के अनुसार यह संसार प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम से संचालित होता है। विश्व परिवर्तनशील एवं अनित्य है। इस परिवर्तनशील एवं नश्वर जगत का सृष्टा ईश्वर को मानना, जो कि नित्य एवं अपरिवर्तनशील है, असंगत है। क्योंकि यदि विश्व का निर्माता ईश्वर है तो विश्व में विनाश, अशुभ आदि का अभाव होना चाहिए। विश्व

की समस्त वस्तुएं कारण-कार्य की एक श्रंखला है। कारण-कार्य नियम के सृष्टा के रूप में ईश्वर को मानना उचित नहीं है।[35]

चार्वाक दर्शन जो कि एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है, वह विश्व का अस्तित्व मानता है क्योंकि विश्व का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। सामान्य रूप से भारतीय विचारधारा में जड़ जगत को पंच भूतों- पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल तथा आकाश से निर्मित माना गया है। प्रत्येक भूत का कुछ न कुछ गुण है जिसका ज्ञान इन्द्रियों से होता है। चार्वाक पंचभूतों में से चार भूतों की सत्ता ही स्वीकार करता है। वह आकाश को नहीं मानता है क्योंकि आकाश का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है, और जिसका प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है वह अयथार्थ है। पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि के भौतिक तत्वों के संयोग से विश्व का निर्माण हुआ है। निर्माण का अर्थ है पंच भूतों का संयुक्त होना तथा प्रलय का अर्थ है पंच भूतों का बिखर जाना। इस प्रकार से चार्वाक के अनुसार विश्व का आधार भूत है। अतः चार्वाक जड़वाद का समर्थन करता है। उनके अनुसार पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि के भौतिक तत्वों का स्वभाव ही विश्व का निर्माण करना है। चार्वाक के इस मत को स्वभाववाद (Naturalism) कहा जाता है।[36] अनीश्वरवादी दर्शन होने के कारण चार्वाक ईश्वर की सत्ता का खण्डन करता है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष ही शुद्ध ज्ञान का एकमात्र साधन है। इसलिए ईश्वर को तभी यथार्थ माना जा सकता है, जब उसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो। ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा ईश्वर का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है। साधारणतया ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने के लिए यह कहा जा सकता है कि विश्व एक कार्य है तथा प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है, अतः विश्व रूपी कार्य का कारण ईश्वर है। लेकिन चार्वाक के अनुसार यह युक्ति अनुमान पर आधारित है और अनुमानजन्य ज्ञान यथार्थ नहीं है। इस कारण से अनुमान पर आधारित होने के कारण ईश्वर भी यथार्थ नही है। किसी वस्तु के निर्माण के लिए दो प्रकार के कारणों की आवश्यकता होती है- उपादान कारण तथा निमित्त कारण। चार्वाक के अनुसार विश्व का उपादान कारण तथा निमित्त कारण भूत को माना जाता है। अतः ईश्वर को मानना अनावश्यक है। मात्र इन्द्रिय सुख को जीवन का उद्देश्य मानने के कारण चार्वाक प्रत्यक्षवादी, पदार्थवादी, जड़वादी तथा यथार्थवादी दर्शन है।

यद्यपि गुरमत में भी यथार्थवाद को स्वीकार किया गया है, परन्तु जीवन को मात्र पदार्थों की प्राप्ति तक ही सीमित करने के पक्ष में नहीं है। ऐसा जीवन विकारों से युक्त होता है, क्योंकि केवल मात्र पदार्थों से मानसिक तृप्ति नहीं हो सकती। बल्कि जीव माया के बन्धनों में ग्रसित हो जाता है। सुखमनी में ऐसे जीवन को दुःख पूर्ण बताया गया है-

छूटसि नाही ऊभ पइआलि।
मोहि बिआपहि माइआ जालि।।[37]

सुखमनी के अनुसार इस सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता इन्द्रियगोचर न होने के कारण अत्यन्त रहस्य है। सामान्य बुद्धि का व्यक्ति तो इसे स्वीकार करने से इंकार कर देता है लेकिन रहस्यवादी इस का वर्णन इस प्रकार से करता है-

जा की लीला की मिति नाहि।
सगल देव हारे अवगाहि।।
पिता का जनम कि जानै पूतु।
सगल परोई अपुनै सूति।।[38]

प्रत्येक जीव के पालन-पोषण का जिम्मा भी उसी ने लिया हुआ है लेकिन यह सब कुछ विश्वास करके ही जाना जा सकता है। केवल इन्द्रिय ज्ञान ही इस सम्बन्ध में सिद्ध नहीं होता-

प्रतिपालै जीअन बहु भाति।
जो जो रचिओ सु तिसहि धिआति।।
जिसु भावै तिसु लए मिलाइ।
भगति करहि हरि के गुण गाइ।।
मन अंतरि बिस्वासु करि मानिआ।
करनहारु नानक इकु जानिआ।।[39]

श्रद्धा तथा विश्वास के द्वारा ही यह अनुभव होता है कि वही सर्वव्यापक है तथा सब कुछ उसी के द्वारा संचालित हो रहा है-

सरब भूत आपि वरतारा।
सरब नैन आपि पेखनहारा।।
सगल समग्री जा का तना।
आपन जसु आप ही सुना।।
आवन जानु इकु खेलु बनाइया।
आगिआकारी कीनी माइआ।।[40]

जो कुछ भी होता है उस ब्रह्म की आज्ञा में होता है। यदि यह विश्वास मन में बस जाए तो व्यक्ति संसार के समस्त तूफानों से नहीं घबराता। उसके दुःख हमेशा के लिए समाप्त हो जाते हैं। परमात्मा स्वयं कर्त्ता, कारण एवं कार्य है। वह अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं से ही रचना करता है। स्वयं ही इस का संचालक है तथा स्वयं ही इस का नाश करता है। परमात्मा ही इसका उपादान तथा निमित्त कारण है-

करण कारण प्रभु एकु है। दूसर नाही कोइ।
नानक तिसु बलिहारणै। जलि थलि महीअलि सोइ।।[41]

सुखमनी में सृष्टिकर्ता से जीव की अभेदता का वर्णन भी हुआ है। यह अभेदता इस कारण से आश्चर्य उत्पन्न करती है कि कहां वह इतने गुणों से भरपूर सत्ता और कहां यह जीवात्मा। फिर जो विशेषताएं ऐसे अभेद हुए रहस्यवादी की वर्णन की गयी हैं, वह भी एक रहस्य है कि वह समदृष्टा होता है। उस की दृष्टि में राजा, रंक, मित्र, शत्रु, कन्चन, सुख, दुःख सब एक समान होता है। यह अवस्था ही एक सांसारिक व्यक्ति के लिए अनोखी प्रतीत होती है। कोई व्यक्ति ऐसा कैसे हो सकता है कि उस को राग-द्वेष, सुख-दुःख प्रतीत न हो तथा वह मित्र तथा शत्रु को एक समान समझे। इस प्रकार के आचरण वाले व्यक्ति को सुखमनी में ब्रह्मज्ञानी, साध, सन्त, सेवक, जीवनमुक्त, अपरस, रामदास आदि संकेतों से वर्णित किया गया है। यह आदर्शपूर्ण आचरण वास्तव में असाधारण अवस्था वाला है जिसे साधारण व्यक्ति एक

प्रकार का रहस्य ही समझता है। ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा, जो कि उस परम सत्ता से अभेद हैं, सुखमनी में स्थान-स्थान पर की गयी हैं। इस अभेदता को भी केवल दिव्य दृष्टि वाले व्यक्ति ही अनुभव कर सकते हैं। सुखमनी में इस आश्चर्य का निरूपण करके यह बात स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि ऐसी रहस्यात्मक आत्माएं संसार के कल्याण के लिए स्वयं को न्योछावर कर देती हैं तथा समस्त मानवता को उच्च तथा आदर्श जीवन शैली को अपनाने की प्रेरणा देती हैं। इस प्रकार से सुखमनी का रहस्यवाद कोई व्यक्तिगत अनुभव मात्र नहीं है बल्कि यह समष्टि की भलाई के लिए एक प्रकार के कर्मयोग को जगाता है। ऐसे रहस्यवादी का जीवन उद्देश्य समस्त मानवता को दुःखों तथा संकटों से मुक्त करने का प्रयास करना है-

धंनु धंनु धंनु जनु आइआ।
जिसु प्रसादि सभु जगतु तराइआ।।
जन आवन का इहै सुआउ।
जन कै संगि चिति आवै नाउ।।
आपि मुकतु मुकतु करै संसारू।
नानक तिसु जन कउ सदा नमसकारू।।[42]

सुखमनी का रहस्यवाद साधक को व्यक्तिगत आनन्द प्राप्त करने की प्रेरणा नहीं देता बल्कि समस्त जगत के कल्याण के लिए तत्पर करता है-

ब्रहम गिआनी कै गरीबी समाहा।
ब्रहम गिआनी परउपकार उमाहा।।[43]

सृष्टिकर्ता तथा जीव के सम्बन्ध के विषय में भारतीय दर्शन की विचारधाराओं में विभिन्न मत हैं।

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म और जीव वस्तुतः अभिन्न हैं। जिस प्रकार से अग्नि से विचित्र चिनगारियां अग्नि से अभिन्न हैं उसी प्रकार से जीव ब्रह्म से अभिन्न है। रामानुज के अनुसार जीव ब्रह्म का अंश है परन्तु शंकर को यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म निरवयव है। जीव न तो आत्मा से भिन्न है, न आत्मा का अंश है, न आत्मा का विकार है, बल्कि स्वतः आत्मा है। यदि जीव को आत्मा या ब्रह्म से भिन्न माना जाए तब जीव का ब्रह्म से तादात्मय नहीं हो सकता है, क्योंकि दो विभिन्न वस्तुओं में तादात्म्यता की सम्भावना नहीं हो सकती है।

जीव तथा ब्रह्म में जो भेद दिखायी देता है, वह सत्य नहीं है। इसका कारण यह है कि दोनों का भेद उपाधि के द्वारा निर्मित है। दोनों का भेद व्यावहारिक है। जीव तथा ब्रह्म में पारमार्थिक रूप से कोई भेद नहीं है। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए शंकर ने उपमाओं का प्रयोग किया है। इसके लिए शंकर प्रतिबिम्बवाद का प्रतिपादन करते हैं। जिस प्रकार से एक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जब जल की भिन्न-भिन्न सतहों पर पड़ता है तब जल की स्वच्छता और मलिनता के अनुरूप प्रतिबिम्ब स्वच्छ और मलीन दिखायी देता है, उसी प्रकार से ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब अविद्या पर पड़ता है तब अविद्या की प्रकृति के कारण जीव भी विभिन्न आकार-प्रकार का दिखायी देता है।

जब ब्रह्म का माया से सम्बन्ध होता है तब वह ईश्वर हो जाता है। जब ब्रह्म

का अविद्या से सम्बन्ध होता है जब वह जीव हो जाता है। इस प्रकार जीव और ईश्वर दोनों ब्रह्म के विवर्त हैं। ईश्वर और जीव दोनों व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य हैं, पारमार्थिक दृष्टि से दोनों असत्य प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार से आग की सभी चिंगारियों में ताप पाया जाता है वैसे ही शुद्ध चैतन्य जीव और ईश्वर दोनों में पाया जाता है। इससे प्रमाणित होता है कि जीव और ईश्वर एक दूसरे के निकट हैं।

शंकर ने ईश्वर तथा जीव के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए मुण्डकोपनिषद् में वर्णित उपमा की ओर संकेत किया है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि दो पक्षी जो निरन्तर साथ रहते हैं तथा एक दूसरे के अति निकट हैं, एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें से एक फल को मधुर समझकर बड़े चाव से खाता है और दूसरा बिना खाये सिर्फ देखा करता है। पहला जीव है जबकि दूसरा ईश्वर है। जीव भोगता है जबकि ईश्वर दृष्टा है। ईश्वर जीव को भोग कराता है। जीव कर्त्ता है जबकि ईश्वर नियन्ता है।[44]

उपनिषद् में जीवात्मा की चार अवस्थाओं का संकेत मिलता है। यह चार अवस्थाएं हैं-

➢ जाग्रत अवस्था- इस अवस्था में जीवात्मा विश्व कहलाता है तथा वाह्य इन्द्रियों द्वारा सांसारिक विषयों का भोग करता है।

➢ स्वप्न अवस्था- इस अवस्था में जीवात्मा तैजस कहलाता है। वह आन्तरिक सूक्ष्म वस्तुओं को जानता है और उनका भोग करता है।

➢ सुषुप्ति अवस्था- इस अवस्था में जीवात्मा प्रज्ञा कहलाता है जो कि शुद्ध चित्त के रूप में विद्यमान रहता है। इस अवस्था में वह आन्तरिक या वाह्य वस्तुओं को नहीं देखता है।

➢ तुरीया अवस्था- इस अवस्था में जीवात्मा को आत्मा कहा जाता है। तुरीयावस्था की आत्मा ही ब्रह्म है।[45]

डा. करतार सिंघ सूरी के अनुसार- प्राचीन भारतीय विद्वानों तथा साधकों ने संसार की रचना को देखा तो उनके मन में उसके रचियता की खोज करने का विचार जागृत हुआ। उन्होंने अपनी इस खोज को सरल बनाने के लिए आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीन भागों में बांटा। इन तीनों पक्षों भौतिक, दैविक तथा आत्मिक के द्वारा परम तत्व के स्वरूप को समझने का प्रयास किया। इसी परम तत्व को उपनिषदों में ब्रह्म नाम देकर वर्णन किया गया है। इसके अलावा परमात्मा, ईश्वर या प्रभु आदि विशेषणों का प्रयोग भी किया गया है।[46]

ब्रह्म संस्कृत का शब्द है। मानक हिन्दी कोश के अनुसार, परम पुरूष के रूप में पूजी जाने वाली वह सर्व प्रधान सत्ता जो ब्रह्माण्ड को बनाने, नियन्त्रण करने वाली मानी गयी है, उसको निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, भयरहित, निरवैर अर्थात बैर रहित तथा सभी प्रकार की वासनाओं से निर्लिप्त माना गया है।[47]

सुखमनी में ब्रह्म के सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापी तथा सर्व समर्थ स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है-

करन करावन करनै जोगु।
जो तिसु भावै सोई होगु।।[48]

ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता का अर्थ है कि यह सीमाओं तथा बन्धनों से मुक्त होती है। वह किसी पर आश्रित नहीं होती-

अबिनासी नाही किछु खंड।
धारण धारि रहिओ ब्रहमंड।।[49]

सुखमनी में भारतीय विचारधारा के समान ब्रह्म के निर्गुण तथा सगुण दोनों रूप माने गए हैं। निराकार प्रभु माया का रूप भी स्वयं है, और माया के गुणों से दूर भी स्वयं ही है, शून्य अवस्था में रहते हुए भी स्वयं है-

सरगुन निरगुन निरंकार। सुंन समाधी आपि।
आपन कीआ नानका। आपे ही फिरि जापि।।[50]

सुखमनी में ब्रह्म को सृष्टि का आधारभूत कारण माना गया है-

आपि कीनो आपन बिसथारू।
सभु कछु उस का ओहु करनैहारू।।[51]

सृष्टि की रचना ब्रह्म ने स्वयं अपनी इच्छा से की है-

नानक रचना प्रभि रची।
बहु बिधि अनिक प्रकार।।[52]

सुखमनी के ब्रह्म की एक विशेषता उसका व्यक्त सगुण रूप है जिसमें उसका मानवीयकरण करके उसके प्रेमभाव का विशिष्ट रूप प्रकट किया गया है। जिस कारण से ब्रह्म दयालु, करूणामय, सहायक, कृपालु आदि गुण सम्पन्न दिखाया देता है-

करतार करूणामै दीनु बेनती करै।
नानक तुमरी किरपा तरै।।[53]

दीन दरद दुख भंजना।
घटि घटि नाथ अनाथ।।[54]

माया सृष्टि की रचना नहीं करती। माया एक ऐसा सृजनात्मक विधान है जिसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह ईश्वर की इच्छा तथा आज्ञा में क्रियाशील होती है। अर्थात यह ईश्वर का ही अपना प्रकाशन है। माया का यह क्रियात्मक प्रकाशन सृष्टि रचना में सत्व, रज तथा तमों गुण के रूप में प्रकट होता है-

जह आपि रचिओ परपंचु आकार।
तिहु गुण महि कीनो बिसथारू।।[55]

जीवों की उत्पत्ति और विनाश प्रभु ने एक खेल बनाया है ,और अपनी आज्ञा में चलने वाली माया बना दी है-

आवनु जानु इकु खेलु बनाइआ।
आगिआकारी कीनी माइआ।।[56]

सुखमनी में सृष्टि को सत् माना गया है। डा. जोगिन्दर सिंघ का भी यह मानना है कि यह रचना सत् है क्योंकि यह सत्य स्वरूप परमात्मा द्वारा रची गयी है। वह अपनी रचना में व्याप्त है, यह उसका सगुण स्वरूप है। परमात्मा कोई भी ऐसा कार्य नहीं करता जो झूठ या मिथ्या हो। केवल देखने तथा समझने वाले की दृष्टि में अन्तर होता है। जिसकी दृष्टि सत् होती है, उसी को यह रचना सत् प्रतीत होती है-

आपि सति कीआ सभु सति।
आपे जानै अपनी मिति गति।।[57]

सुखमनी के अनुसार रचना का मूल आधार नाम है। नाम सत् है। इसलिए जगत का आधार भी सत् है, सुखमनी जगत को हर पक्ष से सत् मानती है।[58]

सुखमनी शंकराचार्य के किसी भी सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करती। यह संसार न तो ब्रह्म का विवर्त है तथा न ही अध्यास है और न ही प्रतिबिम्ब है। यह संसार माया का रूप भी नहीं तथा न ही माया द्वारा उत्पन्न हुआ है। माया अथवा भ्रम के कारण यह असत प्रतीत होता है। माया ने इसकी वास्तविकता को ढ़का हुआ है। वास्तव में यह सत् है। इस की अनेकता, परिवर्तनशीलता तथा अस्थिरता इस के गुण हैं।

सुखमनी का जीव संकल्प विशिष्टाद्वैतवाद से मिलता जुलता है। इस विचारधारा के अनुसार जीव ब्रह्म का अंश है तथा उस की उत्पत्ति ब्रह्म की आज्ञा के अनुसार हुयी है। डा. सुरिन्दर सिंघ कोहली के विचार के अनुसार, जीव एक प्रकार से ब्रह्म का ही अल्प रूप है। इस का अपना निजत्व है लेकिन क्योंकि यह ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इसलिए इस में ब्रह्म वाले गुण विद्यमान हैं।[59]

सुखमनी में जीव की अल्पज्ञता का वर्णन कईं स्थानों पर मिलता है। उस की अल्पज्ञता का मुख्य कारण माया, मोह, ममता तथा अहंकार है। वह विश्व की वास्तविकता को भुला कर क्षणिक तथा नश्वर पदार्थों से स्वयं को जोड़ लेता है। जगत की वस्तुओं के स्थायी होने का भ्रम उस की अल्पज्ञ बुद्धि का परिणाम है।

डा. जोगिन्दर सिंघ के अनुसार, सुखमनी में गुरू अर्जुन देव जी ने अहंकार को माया के अर्थों में प्रयुक्त किया है। जो कुछ माया का जाल दिखता है वह अहंकार ही है। यही भ्रम अथवा अज्ञानता है। इसी के कारण जीव ब्रह्म से भिन्न दिखायी देता है। इसी के कारण जीवात्मा आवागमन के चक्र में पड़ी हुयी है।[60]

सुखमनी के अनुसार जीवात्मा का परमात्मा के साथ अभेद प्रभु नाम सिमरन, साध संगत, प्रभु कृपा तथा निष्काम कर्म है।

सुखमनी के अनुसार जब जीव कर्म कर रहा होता है तो यह जानकर कि यह कर्म मैं कर रहा हूं, अहंकार करता है, वह कर्म व्यर्थ हो जाता है। लेकिन इस का फल इस को भोगना पड़ता है। अहंकार तथा अज्ञानतावश यह उस का फल अपने ऊपर ले लेता है। ऐसे फल उस के संचित कर्म बन जाते हैं। मृत्यु के उपरान्त जीवात्मा के अहंकार के वशीभूत होकर किए गए कर्म तथा संस्कार उस के साथ रहते हैं। यह कर्म उसे भव-चक्र में डालते हैं-

मन मूरख काहे बिललाईऐ।
पुरब लिखे का लिखिआ पाईऐ।।
दूख सूख प्रभ देवनहारू।
अवर तिआगि तू तिसहि चितारू।।[61]

सुखमनी का कर्म सिद्धान्त गीता के समान है। जीव को निष्काम कर्म करने चाहिए। किसी फल की इच्छा नहीं करनी चाहिए।[62] आत्मा ही बन्धन में पड़ी जीवात्मा कहलाती है। मूलरूप में जीवात्मा ब्रह्म का ही अंश है। अहंकार के कारण ही ब्रह्म से बिछड़ कर दुःख-सुख भोगती है-

जब इह जानै मै किछु करता।
तब लगु गरभ जोनि महि फिरता।।[63]

वास्तव में जीव ब्रह्म का व्यक्त रूप है और ब्रह्म का विराट रूप जगत है-

सो अंतरि सो बाहरि अनंत।
घटि घटि बिआपि रहिआ भगवंत।।
धरनि माहि आकास पइआल।
सरब लोक पूरन प्रतिपाल।।[64]

सुखमनी का मूल उद्देश्य जीवन मुक्ति तथा सहज स्वाभाविक सुख या आनन्द की प्राप्ति करना है जो कि जीवित अवस्था में ही प्राप्त हो सकते हैं। मृत्यु के उपरान्त किसी सुखदायी स्थान का कोई संकल्प नहीं है, अर्थात प्राप्त जीवन से अलग और कोई जीवन नहीं होता जहां पहुंचकर वह सुख की प्राप्ति कर सकता है। सुखमनी की विचारधारा प्राप्त जीवन में पराभौतिक तत्व को प्रकाशित करने का प्रयास करती है-

अंतरि बसे बाहरि भी ओही।
नानक दरसनु देखि सभ मोही।।[65]

यह पराभौतिक तत्व ही प्राप्त जीवन का मूल आधार है। यह तत्व ब्रह्म का अंश है। इसके भौतिक जीवन में विलुप्त होने के कारण ही जीवन एक समस्या लगता है। इसका साक्षात हो जाने पर जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं का हल हो जाता है।

सन्दर्भ

1. "Mysticism is the attitude of the mind in which all other relations are swallowed up in the relation to God." Caird, Evolution to Theology, p. 210
2. "It is name of that organic process which involves the perfect consummation of the love of God. It is the art of establishing conscious relation with the above." E.Underhill, Mysticism, p. 81
3. "By Mysticism is meant direct experience of what is believed to be divine reality." Brightman , A Philosophy of Religion, p.45
4. "The term mysticism is often used loosely as a synonym for religion." Atkinson Lee, Ground Work of Philosophy of Religion, p.161
5. "Mysticism is identical with worship, and worship with prayer." Hocking, The meaning of God in human experience, p. 134
6. Dr. Radhakrishnan, Eastern Religions and Western Thought, p. 63
7. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 275
8. वही, पृष्ठ 276
9. वही, पृष्ठ 268
10. वही, पृष्ठ 291
11. वही, पृष्ठ 275
12. वही, पृष्ठ 275
13. जगबीर सिंघ , बाणी संसार, पृष्ठ 43
14. मनमोहन सिंघ , भाई वीर सिंह काव्य का दार्शनिक विश्लेषण, पृष्ठ 40
15. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा , भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 63
16. मनमोहन सिंघ , भाई वीर सिंह काव्य का दार्शनिक विश्लेषण, पृष्ठ 40
17. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 287
18. वही, पृष्ठ 278
19. भगवद्गीता, अध्याय 7, श्लोक 10
20. वही, अध्याय 9, श्लोक 17
21. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा , भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 34
22. सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 57

23. वही, पृष्ठ 26
24. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 281
25. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा , भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 223-224
26. वही, पृष्ठ 223-224
27. वही, पृष्ठ 318
28. बद्रीनाथ सिंघ, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 518-519
29. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 131
30. बद्रीनाथ सिंघ , धर्म दर्शन, पृष्ठ 83
31. "Theistic religion-a religion in which the one personal and perfect God is the object of worship." Flint, Theism, p. 50
32. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 140
33. ".......he is eternal and uncreated, omnipotent omniscient and his attitude to the human creature is one of grace and love." John Hick: Arguments for the Existence of God, p. 8
34. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 282
35. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा , भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 124
36. वही, पृष्ठ 86
37. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 266
38. वही, पृष्ठ 284
39. वही, पृष्ठ 292
40. वही, पृष्ठ 294
41. वही, पृष्ठ 277
42. वही, पृष्ठ 295
43. वही, पृष्ठ 273
44. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा , भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 312-313
45. वही, पृष्ठ 60
46. करतार सिंघ सूरी, गुरू अर्जुन देव ते सन्त दादू दयाल, पृष्ठ 161
47. मानक हिन्दी कोश, भाग- 1, पृष्ठ 395
48. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 277
49. वही, पृष्ठ 282
50. वही, पृष्ठ 291
51. वही, पृष्ठ 279
52. वही, पृष्ठ 275

53. वही, पृष्ट 267
54. वही, पृष्ठ 264
55. वही, पृष्ट 291
56. वही, पृष्ट 294
57. वही, पृष्ट 284
58. जोगिन्दर सिंघ , सुखमनी साहिब दा दार्शनिक आधार, पृष्ठ 275
59. S. S. Kohli] Outlines of Sikh Thought, p.27
60. जोगिन्दर सिंघ , सुखमनी साहिब दा दार्शनिक आधार,
    पृष्ठ 200- 201
61. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 283
62. जोगिन्दर सिंघ, सुखमनी साहिब दा दार्शनिक आधार, पृष्ठ 220
63. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 278
64. वही, पृष्ट 293
65. वही, पृष्ट 294

नीतिशास्त्र

मनुष्य समस्त जीवों में श्रेष्ठ है क्योंकि वह चिन्तनशील प्राणी है। उसकी बौद्धिकता ही उसे अन्य जीवों से पृथक करती है। किन्तु इस विवेकशील जीव के प्रारम्भिक जीवन का अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि प्रारम्भ में वह एकाकी जीवन व्यतीत करता था। उसका किसी अन्य व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह अकेला रहकर ही अपने भरण-पोषण के लिए मनमाना आचरण करता था। एकाकी जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति तथा अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क के अभाव के कारण उसके कर्मों पर कोई नियन्त्रण नहीं था। किन्तु कालान्तर में एकाकी जीवन एवं स्वच्छन्द व्यवहार से मनुष्य के सम्मुख कठिनाइयां उपस्थित होने लगीं। वह स्वयं को असुरक्षित एवं असहाय अनुभव करने लगा। उसे अहसास हो गया कि इस प्रकार के जीवन तथा व्यवहार से उसके हितों की रक्षा नहीं हो सकती है। अतः सुरक्षा की भावना तथा भरण-पोषण जैसी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त मनुष्य एक दूसरे के सम्पर्क में आए। यह उस समय की मांग थी। इसका परिणाम यह निकला कि क्रमशः परिवार, कुटुम्ब, जाति तथा समाज आदि संगठनों का उदय हुआ। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति विशेष का शेष व्यक्तियों के सम्पर्क में आना स्वाभाविक हो गया । इस सम्पर्क के कारण मनुष्यों में विचारों का आदान-प्रदान आरम्भ हुआ जिससे उनमें सोचने समझने की शक्ति बढ़ी। मनुष्यों के व्यवहार भी एक दूसरे को प्रभावित करने लगे जिससे समायोजन की आवश्यकता हुई। अतः इस बात पर विचार करना आवश्यक हो गया कि बदली हुई परिस्थितियों में मनुष्य का व्यवहार कैसा हो ? सत् और उचित क्या है ? वह किस कार्य का चुनाव करे जिससे उसकी भलाई हो तथा अन्य व्यक्तियों के हितों की रक्षा भी होती रहे ? यह प्रश्न मनुष्य के आचरण से सम्बन्धित थे। अतः आचरण को नियन्त्रित करना आवश्यक हो गया। इसलिए यह निर्धारित किया गया कि मनुष्य का अमुक व्यवहार सत् है, उसे अमुक कार्य करना चाहिए। इसे परम्परागत नैतिकता कहा जाता है। यह रीति-रिवाज और वह निर्णय था जिसे बहुसंख्यक मनुष्यों की स्वीकृति प्राप्त हुई। मनुष्य को अब स्वच्छन्द व्यवहार की अनुमति नहीं थी। वह रीति-रिवाज के अधीन था। यह व्यवहार का वह रूप था जिन्हें समूह या समाज का अनुमोदन प्राप्त था। समूह की परम्पराओं के विरूद्ध व्यवहार की कठोर निन्दा होती थी। अतः मानवीय व्यवहार की प्रशंसा या निन्दा का आधार समूह या समाज द्वारा अनुमोदित रीति-रिवाज से उसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता थी। यह व्यवहार के तत्कालीन मानदण्ड थे।

समाज के क्रमिक विकास के साथ-साथ मनुष्य की चिन्तन शक्ति भी विकसित हुई। मनुष्य ने अपने परिवेश की विभिन्न समस्याओं पर विचार तथा पुनः विचार करने के साथ ही परिवर्तित परिस्थितियों में आचरण का क्या सिद्धान्त होना

चाहिए या व्यवहार का उचित मानदण्ड क्या है ? इस विषय पर विचार और पुनर्विचार किया। उसने परम्परागत तथा समाज द्वारा अनुमोदित रीति-रिवाज, नियम एवं निर्णयों का परीक्षण एवं मूल्यांकन करके आचरण सम्बन्धी अनेक अवधारणाओं का त्याग किया तथा उसके स्थान पर नवीन नियमों और मानदण्डों को स्थापित किया। इस मूल्यांकन का परिणाम यह निकला कि अतीत में स्वीकृत सत् और उचित व्यवहार असत और अनुचित में रूपान्तरित हो गया। इसके साथ ही जीवन सम्बन्धी नवीन मूल्य, आदर्श तथा व्यवहार के मानदण्ड निर्धारित किए गए। किन्तु फिर भी व्यवहार पर किया गया यह नियन्त्रण अन्तिम नहीं था। अतः समय-समय पर आचरण के मानदण्ड, जीवन के मूल्य तथा आदर्शों पर विचार-पुनर्विचार, मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया का क्रम चलता रहा।

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। आणविक अविष्कारों में व्यक्ति को मानवता की भलाई एवं सुरक्षा दिखाई देती है। मनुष्य प्रगतिशील होने का दावा तो करता है किन्तु आणविक हथियारों की अन्धी दौड़ ने उसके इस बोध को आवृत कर दिया है कि उसे क्या करना चाहिए और अन्य व्यक्तियों के साथ कैसे रहना चाहिए ? अतः मनुष्य को यह ज्ञान कराना आवश्यक है कि उसके जीवन का परम लक्ष्य क्या है ? कर्तव्य क्या है ? उसका आचरण कैसा होना चाहिए ? कर्म के सत् असत् का मानदण्ड क्या है ?

इस प्रकार से जन्म से मृत्यु तक मनुष्य के आचरण या व्यवहार का विश्लेषण करने पर हम समाज व व्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ समस्याएं पाते हैं जैसे-

➢ किसी व्यक्ति का कर्म उचित है या अनुचित ?

➢ यदि किसी व्यक्ति का कर्म उचित कहा जाता है तो उसके औचित्य का कारण क्या है ?

➢ किसी व्यक्ति के कार्य को हम किस आधार पर उचित या अनुचित कहते हैं या कार्यों के औचित्य या अनौचित्य का मापदण्ड क्या है ?

➢ मनुष्य कर्म किसलिए करता है ? उसका उद्देश्य या लक्ष्य क्या है ? वह स्वार्थवश या किसी व्यक्तिगत लाभ के लिए कोई कार्य करता है या परार्थ अथवा परोपकार की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है ?

➢ मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? मनुष्य का अन्तिम ध्येय या साध्य क्या है ? इसे प्राप्त करने के लिए वह किन साधनों का प्रयोग करता है ?

इन समस्त प्रश्नों की विवेचना करने वाला शास्त्र ही नीति शास्त्र कहलाता है। यह सभी प्रश्न मानव आचरण से सम्बन्धित हैं, अतः नीति शास्त्र को आचार-शास्त्र भी कहा जाता है । नीति शास्त्र को अंग्रेजी में एथिक्स Ethics कहा जाता है। एथिक्स यूनानी भाषा के एथॉस Ethos शब्द से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है रीति-रिवाज, प्रचलन या आदत। एथिक्स को 'परम्पराओं का विज्ञान' Science of morals अथवा 'परम्परागत दर्शन' Moral philosophy भी कहा

जाता है। मॉरल शब्द लैटिन भाषा के मोरस Mores शब्द से निकला है। इसका प्रयोग भी रीति-रिवाज, प्रचलन या आदत के अर्थ में हुआ है। अतः शब्दार्थ की दृष्टि से नीति शास्त्र परम्पराओं का विज्ञान, रीति-रिवाज, प्रचलन या आदत का शास्त्र अथवा विज्ञान है। रीति-रिवाज, प्रचलन या आदत का सम्बन्ध मनुष्य के ऐसे कर्म से है जिसे करने का वह अभ्यस्त है। इनके द्वारा कर्त्ता के व्यवहार या आचरण का प्रकाशन होता है। मनुष्य की सभी क्रियाएं उसके आचरण को व्यंजित नहीं करती हैं। कर्त्ता द्वारा स्वेच्छा और संकल्प के साथ किए हुए व्यवहार से आचरण का प्रकाशन होता है। नीतिशास्त्र संकल्प पूर्ण व्यवहार अथवा आचरण का अध्ययन करता है।

नीतिशास्त्र कर्म के सद्सद्भाव तथा कर्म को वास्तव में कैसा होना चाहिए, के निर्धारण के साथ-साथ मानव जीवन के यथार्थ आदर्श अथवा परम श्रेयस तथा नैतिक मूल्य की भी मीमांसा करता है इसलिए नीतिशास्त्र को उचित आचरण के आदर्श एवं मूल्य का विज्ञान कहते हैं।

नीतिशास्त्र व्यवहार के औचित्य अथवा अनौचित्य, उसके सत् असत् सम्बन्धी निर्णय तक ही सीमित नही है। वह यह भी निर्धारित करता है कि किसी आदर्श की प्राप्ति की दृष्टि से मनुष्य का आचरण कैसा होना चाहिए ? अतः नीतिशास्त्र 'क्या होना चाहिए' का विज्ञान भी है।

सदाचार शब्द के कोशगत अर्थ हैं- उत्तम क्रिया, भला व्यवहार, नेक चलन। डा. आई. सी. शर्मा के अनुसार- 'मनुष्य के जीवन के परम उद्देश्य के अध्ययन को सहज भाव से सदाचार कहा जा सकता है।'[1] इस को डा. नारायण ने और अधिक स्पष्ट किया है- 'एक परम सत्ता के बोध अनुसार ठीक प्रकार का जीवन जीने के धर्म के एक पक्ष को हम सदाचार कह सकते हैं।'[2]

इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य के आचरण के भले-बुरे की परख करने वाला मापदण्ड सदाचार हैं। सुखमनी में धर्म की राह पर चलने वालों को अच्छा व उचित जीवन जीने के लिए उपदेशों में करने योग्य व न करने योग्य कर्मों के बारे में विस्तृत वर्णन है क्योंकि मनुष्य को समस्त जीवों में श्रेष्ठ माना जाता है तथा अनन्त योनियों में भटक रहे जीवों का जिक्र किया गया है। इस मनुष्य योनि की कामना तो देवता भी करते हैं क्योंकि मानव योनि में ही जीव कर्म, धर्म तथा परम पद प्राप्त कर सकता है।

आचार शास्त्र में जीवन जीने के सिद्धान्तों पर यद्यपि कई दृष्टिकोणों से विचार किया गया है, लेकिन इसमें मुख्य रूप से मनुष्य का पथ प्रदर्शन करने वाली दो बातें हैं- क्या कुछ करने योग्य है और क्या नही ? क्या ठीक है तथा क्या नही ठीक है ? जो करना उचित नहीं है वह बुराई है, दुराचार है। इसको अवगुण कहा जाता है। जो करना उचित है, आत्म-विकास तथा सामाजिक विकास दोनों के लिए लाभप्रद है। वह अच्छाई है, पुण्य है, नेकी या सदाचार हैं। इसे नीतिशास्त्री सदगुण या Virtue कहते हैं। पुण्य तथा पाप धर्मशास्त्र के संकेत हैं तथा गुण व अवगुण आचार शास्त्र के। गुण धारण करने योग्य हैं तथा अवगुण त्यागने योग्य अर्थात उचित कर्म करने योग्य है तथा

अनुचित कर्म अयोग्य।

अब इस बात का निर्णय किस प्रकार से किया जाए कि अमुक कार्य अच्छा है या बुरा ? अथवा क्या ठीक है व क्या ठीक नही है ? इसकी एक कसौटी यह मानी जा सकती है कि ठीक व उचित कार्य करने के बाद खुशी, आनन्द या सन्तुष्टि प्राप्त होती है। इसलिए ऐसा कार्य जिस के करने से शान्ति व सन्तुष्टता मिले वही ठीक है तथा करने योग्य है। जिस कार्य को करने से दुःख या पछतावा हो वह बुरा है, पाप है, अनुचित है तथा उसे नहीं करना चाहिए।

एक समय में जप, तप, पूजा, पाठ, उपासना को जितना महत्व दिया जाता था उतना आचरण के नियमों को नहीं दिया जाता था। यह माना जाता था कि केवल भक्ति ही आत्मिक कल्याण के लिए पर्याप्त है। ऐसे विश्वास का संभवतः एक कारण यह भी था कि सामाजिक जीवन से अलग होने के कारण ऐसे कर्तव्य पालन की ओर व्यक्ति का ध्यान नहीं जाता था अर्थात दूसरों के प्रति अपनी जिम्मेदारी उनकी मानसिक चेतना का विशेष भाग नही थी।

यदि विश्लेषणात्मक दृष्टि से देख जाए तो आध्यात्मवाद यह मार्ग दिखाता है कि मनुष्य ने ईश्वर के साथ किस प्रकार से सम्बन्ध बनाना है तथा सदाचार यह सिखाता है कि मनुष्य का अन्य मनुष्यों के साथ सम्बन्ध किस प्रकार का होना चाहिए ? अर्थात मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध मधुर बनाने वाली नियामावली आचार-शास्त्र है। जीवन के लिए इन दोनों की आवश्यकता है। क्योंकि धर्म के बिना सदाचार असंभव है तथा आचारहीन धर्म भ्रम मात्र है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि सदाचार जब व्यवहार या आचरण में आ जाए तो वह धर्म होता है तथा सिद्धान्त रूप में धर्म ही सच्चा सदाचार होता है।

नीति का सम्बन्ध नैतिक आदर्श से है। धर्मशास्त्र धर्म के सिद्धान्तों की मीमांसा है। धर्म का अर्थ है- मानव शक्ति से उच्चतर किसी शक्ति में विश्वास। नीति तथा धर्म के सम्बन्ध के विषय में विद्वानों में विवाद है। कुछ विद्वान नीति तथा धर्म को अभिन्न तथा कुछ दोनों को नितान्त भिन्न मानतें हैं। मैथ्यू आर्नाल्ड महोदय का कहना है- 'धर्म भावना से मुक्त नैतिकता है।'[3] ब्रैडले के अनुसार- 'नैतिकता का अन्त ही धर्म है।'[4]

इससे स्पष्ट है कि इनके अनुसार धर्म ही नीति है तथा नीति ही धर्म है। धर्म से अलग किसी भी नैतिक सिद्धान्त का कोई मूल्य नहीं है। समस्त नैतिक सिद्धान्त धर्म को ध्यान में रख कर ही बनाए जाते हैं। नीतिशास्त्र में मूल्यों पर विचार किया जाता है परन्तु सबसे बड़ा मूल्य परम शुभ है तथा परम शुभ परमात्मा की प्राप्ति है इसलिए परम शुभ ईश्वर ही है।

ईश्वर की आज्ञा का पालन करना ही नैतिकता है तथा उसकी आज्ञा की अवहेलना करना ही अनैतिकता है। इससे स्पष्ट है कि धर्म नीति या आचार का मूल है। इस मत के समर्थक देकार्त, लॉक, मध्युगीन सन्त आगस्ताइन आदि हैं। सन्त

आगस्ताइन के अनुसार सभी नैतिक विचार ईश्वर केन्द्रित हैं। नैतिक जीवन तो ईश्वराभिमुख जीवन है। शुभ व अशुभ का अन्तिम निर्णायक ईश्वर है। अतः उसके आदेश का पालन करना ही नैतिक कर्म है। लेकिन धर्म को आचरण का मूल मानने में कई विवाद उठ जाते हैं-

धर्म को नैतिकता का मूल मानने पर नैतिकता साधन हो जाएगी। यदि हम नैतिक कर्म धार्मिक होने के लिए करते हैं तो वास्तव में हम नैतिक नहीं। जर्मन दार्शनिक काण्ट नैतिक नियमों को निरपेक्ष आदेश मानते हैं अर्थात नैतिक नियमों का पालन स्वयं साध्य है साधन नहीं। साधन होना तो नैतिकता का दोष है।[5]

धर्म को नीति का मूल मान लेने पर ईश्वर ही नैतिकता का निर्णायक हो जाता है। परन्तु नैतिकता का मूल स्वतन्त्र इच्छा शक्ति है। यदि हम कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं हैं तो हमारा कार्य नैतिक नहीं हो सकता। यह आवश्यक नहीं कि ईश्वरीय आदेश ही नैतिकता का मापदण्ड हो। संसार में बहुत से धर्म हैं जो ईश्वर को बिल्कुल नहीं मानते परन्तु उनमें नैतिकता या आचार का विधान अत्यन्त उत्तम है। जैसे- बौद्ध धर्म ईश्वर को नहीं मानता, जैन धर्म ईश्वर को नहीं स्वीकार करता। परन्तु इनके नीति या आचार के नियम उत्तम हैं। अतः नीति या आचार के लिए ईश्वरीय आदेश की आवश्यकता नहीं है। सामाजिक जीवन को सुखी बनाने के लिए नैतिक नियमों की आवश्यकता होती है, ईश्वर में विश्वास की नहीं। नैतिक नियमों के बिना कोई भी समाज सुचारू रूप से नहीं चल सकता।

इसके विपरीत कुछ विचारकों की मान्यता है कि नीति धर्म का मूल है। ईश्वर का अस्तित्व ही नैतिकता पर आधारित है। हम नैतिक जीवन यापन करके ही परमात्मा को प्राप्त करते हैं। ईश्वर केवल शुभ का आधार है। अनैतिक व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता। नैतिकता व्यक्ति को कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनाती है। कर्तव्य पालन से ही हम ईश्वर तक पहुंच पाते हैं। अतः नैतिकता ईश्वर तक पहुंचने का सोपान है। मनुष्य नैतिक नियमों का पालन करना अपना कर्तव्य समझता है। किसी सत्ता के प्रति ही कोई कर्तव्य होता है। यह सत्ता कौन है ? इसके उत्तर के रूप में ही ईश्वर के अस्तित्व में हमारा विश्वास होने लगता है।

नीतिशास्त्र में चरित्र के आदर्श की मीमांसा होती है। यह आदर्श केवल सैद्धान्तिक नही माना जाता। इसलिए एक ऐसी शक्ति को हम मानते हैं जो उन आदर्शों से परिपूर्ण है।

वास्तव में धर्म तथा नीति के क्षेत्र को अलग-अलग करना उचित नहीं है। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। धर्म नीति का पूरक है तथा नीति धर्म का पूरक है। धर्म एक अदृश्य शक्ति के प्रति विश्वास है। यह विश्वास नैतिक जीवन का आधार है। नैतिक कर्म से ही यह विश्वास दृढ़ होता है। धर्म नैतिकता का आदर्श आधार है तथा नैतिकता धर्म का। नीति व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध पर बल देती है तथा धर्म व्यक्ति व ईश्वर के सम्बन्ध पर। नीति धर्म पर प्रतिक्रिया करती है तथा उसे परिष्कृत

करती है। धर्म नीति पर प्रतिक्रिया करता है। उसे प्रेरणा देता है तथा उसका उत्थान करता है। नीतिविहीन धर्म अन्धविश्वास है। नीति तथा धर्म का सहयोग होना चाहिए। नीति एक मनुष्य के दूसरे मनुष्य के सम्बन्ध से सन्तुष्ट हो जाती है। धर्म सीमित से असीम की ओर जाता है। मनुष्य कभी सीमित से तृप्त नहीं होता। उसकी अतृप्त वासना अनन्त ईश्वर की इच्छा करती है। अनन्त ईश्वर को प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है।

मनुष्य आदि काल से ही एक अतिप्राकृत तथा अतिमानवीय शक्ति या शक्तियों में विश्वास रखता रहा है। इसका कारण यह है कि पूर्णरूपेण, प्राकृतिक घटनाओं को नियंत्रित या प्रभावित नहीं कर सकता। अतः वह धर्म में पहले से ही विश्वास रखता है। अतः नीति तथा धर्म अविच्छिन्न हैं।

सुखमनी में भी दोनों पक्षों पर ध्यान दिया गया है तथा ऐसे सम्पूर्ण श्रेष्ठ धर्म को दृढ़ किया गया है जो कि व्यक्ति को हर तरह से श्रेष्ठाचारी बनाता है। प्राचीन काल में इस मनोरथ को प्राप्त करने के लिए कई प्रकार के धर्म-कर्म बताए गए लेकिन वह अधिकांशतः सार्थक सिद्ध नहीं हुए। इन विचारों का सुखमनी में विवेचन किया गया है कि जप, तप, पुण्य, दान, यज्ञ, तीर्थ, व्रत आदि वाह्य बातें हैं। इनसे मन विकारों से दूर नहीं होता तथा न ही उच्च व श्रेष्ठ गुणों का प्रकाशन व विकास होता है-

जाप ताप गिआन सभि धिआन।
खट सासत्र सिम्रिति वखिआन ।।
जोग अभिआस करम ध्रम किरिआ।
सगल तिआगि बन मधे फिरिआ।।
अनिक प्रकार कीए बहु जतना।
पुंन दान होमे बहु रतना।।
सरीरु कटाइ होमै करि राती।
वरत नेम करै बहु भाती ।।[6]

सुखमनी में स्पष्ट रूप से अच्छाई की प्रवृत्ति तथा बुराई की निवृत्ति पर बार-बार बल दिया गया है तथा इस बात की व्याख्या है कि प्रभु भक्ति को छोड़कर केवल सदाचारी गुणों से ही मानवीय शख्सियत पूर्ण नहीं होती। सदाचार की शिक्षा का आरम्भ ही इस प्रकार से किया गया है कि प्रभु भक्ति सबसे पहली शर्त है तथा दूसरी शर्त प्रत्येक व्यक्ति के साथ अच्छा व्यवहार करना है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह सद व्यवहार क्या है ? मनुष्य का आदर्श क्या होना चाहिए अर्थात मनुष्य का आदर्श आचरण क्या है ? यह विवेचना करना ही नीतिशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। साधारणतया अच्छे आचरण वालों को चरित्रवान कहा जाता है। लेकिन चरित्र शब्द का वास्तविक अर्थ है मनुष्य की अपनी मानसिक तथा नैतिक प्रकृति, जिस के कारण वह दूसरे मनुष्य से भिन्न है। विवेक-बुद्धि मनुष्य का विशेष गुण है। मनुष्य की मानसिक या नैतिक विशेषताओं को ही उसका चरित्र कहा

जाता है। अब प्रश्न होता है कि उसकी मानसिक व नैतिक प्रकृति क्या है ? मनुष्य की कुछ प्रवृत्तियां जन्म से ही होती हैं। आरम्भ में वे ही अधिकांशतः हमारे कर्मों की निर्णायक होती हैं। जैसे-जैसे हमारा विकास होता है वैसे-वैसे उन प्रवृत्तियों का बुद्धि द्वारा नियन्त्रण और परिष्कार कर उचित या अनुचित संकल्प करने का हमें अभ्यास होता जाता है। पहले तो हम कभी उचित और कभी अनुचित इच्छा करते हैं लेकिन बाद में हमारे संकल्प में एकता आ जाती है। यह एकता अभ्यास के कारण होती है। जिस प्रकार से साइकिल सीखना आरम्भ करने पर हम कभी गिरते व कभी नहीं गिरते हैं। लेकिन चलाने का अभ्यास हो जाने पर उस क्रिया में समरूपता आ जाती है। उसी प्रकार से विकास के पश्चात हमारी विचार प्रवृत्ति भी दृढ़ हो जाती है तथा विचार करने की रीति प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिगत हो जाती है। विशेष ढंग की इच्छा के अभ्यास तथा विचार प्रवृत्ति को मनुष्य की मानसिक प्रकृति कहा जाता है । इसलिए चरित्र का अर्थ हुआ संकल्प या इच्छा का अभ्यास। अच्छे या बुरे चरित्र का अर्थ हुआ जो अभ्यास पूर्वक अच्छा संकल्प करे या बुरा।

चरित्र स्वभाव से भिन्न है क्योंकि स्वभाव प्राकृतिक है। यह नैतिक जीवन का प्राकृतिक उपादान है। स्वभाव सभी प्रवृत्तियों व वासनाओं को कहा जाता है। लेकिन चरित्र अर्जित होता है। यह मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का परिणाम है। इसमें व्यक्ति की इच्छा, इच्छा संघर्ष, विवेक तथा लक्ष्य का विचार ही कार्य करता है। अन्य प्राणियों से उसकी क्रिया इसी में भिन्न है कि वह प्रकृति के अनुकूल या स्वभाव के अनुसार ही क्रिया करते हैं। लेकिन मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है। वह उचित-अनुचित का विचार करके अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति के अनुसार कार्य करता है। व्यक्ति अपने चरित्र का स्वयं निर्माण करते हैं। अच्छे संकल्प के अभ्यास से अच्छा चरित्र तथा बुरे संकल्प के अभ्यास से बुरा चरित्र बनता है। अर्थात मनुष्य के चरित्र में विकास संभव है। उचित इच्छा रखने पर ही किसी का चरित्र अच्छा कहा जा सकता है।

आचरण मनुष्य का ऐच्छिक या अभ्यास जन्य कर्म है। ऐच्छिक कर्मों में मनुष्य की इच्छा, संकल्प आदि होते हैं। यह मनुष्य का सचेतन इच्छा युक्त कर्म है। किसी अवसर पर मनुष्य इच्छा पूर्वक जो करता है, वह जिस प्रकार सदा इच्छा करता आया है, उसी पर निर्भर है। इसलिए आचरण इच्छा के अभ्यास अर्थात चरित्र पर निर्भर है। आचरण मनुष्य के चरित्र का व्यक्त रूप है। इच्छा करने का जैसा अभ्यास रहता है, मनुष्य का किसी अवसर पर वैसा ही आचरण होता है। आचरण किसी अवसर की गई इच्छा को कहा जाता है। इसलिए चरित्र का सम्बन्ध हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व से है, आचरण का हमारे कर्म से। दोनों का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा वृक्ष का जड़ तथा उसके फल से सम्बन्ध रहता है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है। जैसा चरित्र होता है वैसा आचरण होता है। जैसा आचरण होता है, वैसा ही चरित्र का निर्माण होता है।

मनुष्य का आचरण उसके चरित्र पर निर्भर रहता है। लेकिन वाह्य परिस्थितियां भी आंशिक रूप से उसके आचरण को प्रभावित करती हैं। भौतिक तथा सामाजिक वातावरण ही वाह्य परिस्थितियां हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य के आचरण के दो निर्धारक तत्व है- एक उसका चरित्र तथा दूसरी वाह्य परिस्थितियां। लेकिन चरित्र तथा वाह्य परिस्थिति को बिल्कुल स्वतन्त्र मान लेना भूल है। वाह्य परिस्थितियां चरित्र से पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं हैं। किसी भी स्थिति या वातावरण को परिस्थिति मानना जिससे हम किसी कर्म के लिए बाध्य हों, हमारे चरित्र पर निर्भर है। एक ही परिस्थिति हमें किसी कर्म के लिए बाध्य करती है और अन्य को नहीं। अपनी जान जाने के डर से किसी को कोई डूबने से बचाने नहीं जाता पर कुछ व्यक्ति उसकी परवाह न करके पानी में कूद जाते हैं। डूबने का डर कर्म के लिए एक परिस्थिति हुई जिससे हम उचित कर्म के लिए मजबूर हुए पर वहीं दूसरे के लिए कोई बाधक परिस्थिति नहीं हुई। इसलिए वाह्य वातावरण ही केवल परिस्थिति नहीं है बल्कि उस वातावरण को परिस्थिति मानना हमारे चरित्र पर निर्भर है।

सुखमनी के अनुसार सद् व्यवहार का अर्थ है- मन, वाणी या कर्म द्वारा किसी प्रकार से भी किसी को दुःख न देना। ऐसा व्यवहार श्रेष्टाचारी सन्त पुरूषों की संगति से परिपक्व होता है। सदाचार के बुनियादी सूत्र का वर्णन सुखमनी में इस प्रकार किया है-

उसतति मन महि करि निरंकार।
करि मन मेरे सति बिउहार।।
निरमल रसना अंमृितु पीउ।
सदा सुहेला करि लेहि जीउ।।
नैनहु पेखु ठाकुर का रंगु।
साध संगि बिनसै सभ संगु।।
चरन चलउ मारगि गोबिन्द।
मिटहि पाप जपीऐ हरि बिन्द।।
कर हरि करम स्रवनि हरि कथा।
हरि दरगह नानक ऊजल मथा।।[7]

सुखमनी में अंकित मुख्य साधना प्रभु नाम का सिमरन है। जिसके द्वारा मानव को सम्पूर्णता प्राप्त होती है। मध्ययुग के लगभग सभी सन्तों ने 'नाम' के प्रति अपूर्व श्रद्धा दिखाई है। सगुण व निर्गुण दोनों प्रकार के सन्तों ने नाम के प्रति अपार श्रद्धा रखी। नाम सिमरन का तात्पर्य न तो किसी वाह्य साधन से है तथा न ही इसका आशय किसी पवित्र शब्द को मन्त्रवत दुहराना है। किसी शब्द को दुहराने मात्र से क्या होता है ? किसी वस्तु के कहने मात्र से क्या वह वस्तु प्राप्त होती है ? यदि राम कहने मात्र से संसार को मुक्ति मिल जाती तो खाण्ड कहने से ही मुंह मीठा हो जाता। यदि

आग कहने मात्र से पांव जलने लगे, पानी कहने मात्र से प्यास बुझ जाए तो संसार में सभी मुक्ति के भागी हो जाएंगें-

राम कह्यो दुनिया गति पावै, खाण्ड कहयां मुख मीठा।
पावक कहां पावं दे दाझै,जल कहि त्रिषा बुझाई। (कबीर)

इस नाम सिमरन में तल्लीनता का भाव है। इसलिए कबीर का मानना है कि नाम सिमरन खण्डे की धार पर चलने के समान है।

प्राचीन भारत में बहुत से कर्म शरीर को कष्ट देने वाले इसलिए किए जाते थे कि शरीर वासना या भोग के लायक ही न रहे। बड़े-बड़े तप करना, भूखे-प्यासे रहना, नग्न रहना, जलधारा करना या अग्नि तापना आदि यह सब कार्य किए जाते थे। लेकिन शरीर को इतने कष्टों में डालकर भी मन को वश में नहीं किया जा सकता। यदि किसी का मन आंशिक रूप से नियंत्रित हो भी जाता तो वह अपनी पवित्रता या नेकी का दावा करके फिर अहंकार से मैला हो जाता। इसलिए सुखमनी में इन कर्मकाण्डों को धर्म साधना में अंश मात्र भी स्थान नहीं दिया गया। उसमें व्याख्या है कि समस्त धर्मों में सर्वश्रेष्ठ धर्म ईश्वर का सिमरन ही है तथा यही सबसे उत्तम कर्म है-

सरब धरम महि स्रेसट धरमु।
हरि को नामु जपि निरमल करमु।।
सगल क्रिआ महि ऊतम किरिआ।
साध संगि दुरमति मलु हिरिआ।।[8]

इस श्रेष्ठ धर्म की पाठशाला साध-संगति है। इसलिए सुखमनी में बार-बार यही दृढ़ करवाया है कि समस्त प्रयासों में सर्वोत्तम प्रभु नाम का जाप है। अहंकार का त्याग कर प्रभु सिमरन किया जाए तभी आत्मा शुद्ध होती है तथा आत्मा की शुद्धि से ही सच्चे धर्म का ज्ञान होता है।

मनुष्य जन्म को श्रेष्ठ मानते हुए इसका लाभ उठाकर परम पद की प्राप्ति के लिए प्रयास करने का सन्देश सुखमनी में स्थान-स्थान पर किया गया है। गृहस्थ जीवन का त्याग करके प्रभु नाम सिमरन की मान्यता नहीं है। बल्कि ग्रहस्थ धर्म के साथ ही परम पद की प्राप्ति का विधान बताया गया है-

अनदिनु कीरतनु केवल बख्यानु।
ग्रिहस्त महि सोई निरबानु।।[9]

गृहस्थ धर्म में रहते हुए प्रभु कृपा से उसे अनेक सुख के साधन, पदार्थ आदि प्राप्त होते हैं जिस कारण उसे प्रभु का धन्यवाद करना चाहिए-

जिह प्रसादि छतीह अंमृत खाहि।
तिसु ठाकुर कउ रखु मन माहि।।[10]

उस प्रभु की कृपा के बिना इन समस्त सुख के साधनों की प्राप्ति सम्भव नहीं है-

जिह प्रसादि पीवहि सीतल जला।

सुखदायी पवनु पावकु अमुला ।।[11]

गुरू की आज्ञा में चलना तथा साध की संगति करना इतना आवश्यक है कि यह भी धर्म-कर्म का ही अंग बताकर दृढ़ करवाया गया है। गुरू वह है जो सतपुरूष से अभेद है। सेवक के लिए महत्वपूर्ण शर्त निष्कामता को धारण करना है-

गुर कै ग्रिहि सेवकु जो रहै।
गुर की आगिआ मन महि सहै।।
आपस कउ करि कछु न जनावै।
हरि हरि नामु रिदै सद धिआवै।।
मनु बेचै सतिगुर कै पास।
तिसु सेवक के कारज रासि।।
सेवा करत होइ निहकामी।
तिस कउ होत परापति सुआमी।।[12]

गुरू अनुचित व अशुभ की ओर लगे मन को ठीक करके अच्छाइयों की तरफ लगाता है तथा भले पुरूषों की संगति से यह अभ्यास और परिपक्व होता जाता है। सुखमनी की सातवीं अष्टपदी साध-सन्त के मेल-जोल से आचरण में हुए विकास को भली-भांति उजागर करती है कि किस प्रकार से नये प्रकाशमयी जीवन का आरम्भ होता है-

साध कै संगि मुख ऊजल होत।
साध संगि मलु सगली खोत।।
साध कै संगि मिटै अभिमानु।
साध कै संग प्रगटै सुगिआनु।।[13]

गुरू के उपदेश तथा साध की प्रेरणा का परिणाम यह होता है कि बुराइयों का त्याग हो जाता है। वास्तव में यह बुराइयां, अवगुण तथा विकार ही हैं जो मानवीय आत्मा को मलीन करते हैं तथा अशुद्ध व अपवित्र आत्मा ईश्वर का आर्शीवाद प्राप्त नहीं कर सकती। जन्म-जन्मान्तरों से यह विकार मनुष्य को मलीन करते रहे हैं-

बैर बिरोध काम क्रोध मोह।
झूठ बिकार महा लोभ ध्रोह।।
इआहू जुगत बिहानेकई जनम।
नानक राखि लेहु आपन करि करम।।[14]

इसलिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि आत्मिक शुद्धि की जाए। इस शुद्धि का मार्ग गुरू दिखाता है। साध की संगत से ध्यान उचित मार्ग पर लगता है-

सिख की गुरू दुरमति मलु हिरै।
गुर बचनी हरि नामु उचरै।।
सतिगुर सिख के बन्धन काटै।
गुर का सिखु बिकार ते हाटै।।[15]

इसलिए आत्मिक शुद्धि के लिए इस बात पर बल दिया गया है कि विकारों से स्वयं को बचाया जाए। कानों को निन्दा से, नेत्रों को पर रूप देखने से, पैरों को बुरे मार्ग पर चलने से, मन को वासना, लोभ, लालच में सलंग्न होने से बचाया जाए क्योंकि यह सब व्यर्थ है इसलिए इन्द्रियाजीत होने की आवश्यकता है।

सुखमनी में समस्त बुराइओं की चर्चा करके मन को सावधान किया गया है-

मिथिआ नाही रसना परस।
मन महि प्रीति निरंजन दरस।।
पर त्रिअ रूपु न पेखै नेत्र।
साध की टहल सन्त संगि हेत।।
करन न सुनै काहू की निन्दा।
सभ ते जानै आपस कउ मन्दा।।[16]

इन समस्त बुराइयों से पूर्ण रूप से बचाव के लिए सुखमनी में अनेक स्थानों पर परमेश्वर का आर्शीवाद मांगा गया है-

काम क्रोध अरू लोभ मोह। बिनस जाए अहंमेव।।
नानक प्रभ सरणागती। करि प्रसादु गुरदेव।।[17]

इस प्रकार से पाप या बुराई से बचने की प्रेरणा बार-बार दी गयी जिससे आत्मा पवित्र हो जाए तथा व्यक्ति सदाचारी हो जाए।

बुराई के त्याग तथा अच्छाई के ग्रहण के पश्चात जिस बात पर अत्यधिक बल दिया गया है वह निष्कामता है। इससे स्पष्ट है कि समस्त कार्य मन में किसी प्रकार के लक्ष्य को ध्यान में रखकर न किये जाएं। कोई परोपकार करके यह विचार न करे कि उसके परिणामस्वरूप उसे कुछ प्राप्ति होगी बल्कि निष्काम भावना से कार्य को करे-

सेवा करत होइ निहकामी।
तिस कउ होत परापति सुआमी।।[18]

यह विशेष प्रेरणा दी गयी है कि अध्यात्म मार्ग पर चलने वाला किसी प्रकार के अहंकार का या स्वार्थ का शिकार न हो-

काहू फल की इच्छा नहीं बाछै।
केवल भगत कीर्तन संग राचै।।[19]

जर्मन दार्शनिक काण्ट ने भी इसी प्रकार के सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि नैतिक कार्य स्वतः साध्य है, साधन नही। किसी फल या परिणाम की आशा से किया गया कार्य नैतिक तथा उचित नहीं होता। काण्ट के नैतिक दर्शन का मूल आधार ही निरपेक्ष आदेश का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का यह आशय है कि नैतिकता भावनाओं, इच्छाओं या प्रवृत्तियों पर आधारित न होकर कर्तव्य पालन पर आधारित है। हम नैतिक कार्य किसी लक्ष्य या परिणाम के लिए नहीं करते बल्कि स्वयं अपना

कर्तव्य समझकर करते हैं। नैतिक नियम सार्वभौमिक होते हैं अर्थात नैतिक नियम बुद्धि के आदेश होने के कारण सभी मनुष्यों के लिए समान परिस्थितियों में समान रूप से लागू होते हैं।[20]

ऐसे नैतिक नियमों का आधार भावना नहीं बल्कि बुद्धि ही हो सकती है क्योंकि बुद्धि ही सार्वभौमिक नियमों को प्रदान करती है। भावनाएं व्यक्तिगत होती हैं। भावनाओं की पूर्ति किसी वाह्य लक्ष्य या परिणाम के लिए की जाती है अतः भावनाएं परतन्त्र होती हैं तथा बुद्धि स्वतन्त्र। स्वतन्त्र बुद्धि ही नैतिक नियमों का आदेश देती है। यह बुद्धि का आदेश है कि नैतिक नियमों का पालन किसी परिणाम या लक्ष्य के लिए नहीं होना चाहिए। यदि किसी अन्य परिणाम के लिए कोई नियम है तो वह परतन्त्र है। बुद्धि का आदेश तो स्वतन्त्र व सार्वभौमिक है। इसका पालन प्रत्येक परिस्थिति में कर्तव्य रूप में होना चाहिए।

काण्ट के अनुसार नैतिक नियमों का ज्ञान व्यावहारिक बुद्धि के द्वारा होता है। व्यावहारिक बुद्धि सामान्य है क्योंकि यह सभी व्यक्तियों में पायी जाती है। यह सामान्य नैतिक नियमों को आदेश देती है। अतः यह आदेश भी सामान्य है। निरपेक्ष आदेश निष्प्रयोजन होता है। इस का कोई प्रयोजन, हेतु या साध्य नहीं। इसके अनुसार नैतिक मूल्य किसी परिणाम या हेतु पर आधारित नहीं होते। हेतु या परिणाम तो कार्य को स्वतः साध्य न मानकर साधन बना देता है। काण्ट के अनुसार कार्य स्वतः साध्य है। कर्तव्य का पालन कर्तव्य समझकर किया जाना चाहिए। इसका परिणाम तथा परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं हैं। परिणाम तथा परिस्थिति के अनुसार आचरण करने वाला व्यक्ति सार्वभौमिक आचरण नहीं कर सकता।

नैतिक विचारों में काण्ट शुभ-संकल्प Good Will को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। निरपेक्ष आदेश आदि सभी नैतिक नियमों के मूल में शुभ-संकल्प ही है। यह शुभ-संकल्प क्या है ? संकल्प हमारी इच्छा शक्ति है। किसी परिस्थिति में किसी कार्य को करने के लिए हमारे मन में उत्कट इच्छा होती है। हम इस इच्छा के अनुसार कार्य करना चाहते हैं। यह दृढ़ इच्छा ही संकल्प है। परन्तु यह संकल्प विकल्पात्मक होता है। किसी परिस्थिति में अनेक इच्छाएं उत्पन्न होतीं हैं अर्थात हमारे मन में अनेकों विकल्प होते हैं। अन्त में विचार द्वारा हम एक विकल्प का चुनाव करते हैं। यही संकल्प है। परन्तु संकल्प शुभ और अशुभ, अच्छा या बुरा दोनों हो सकता है। संकल्प करते समय यदि बुद्धि परिणाम, साधन आदि पर विचार करती है तो वह संकल्प अशुभ हो जाता है। इसके विपरीत जब कर्तव्य की चेतना से कोई कार्य किया जाता है या उसका दृढ़ निश्चय किया जाता है तो वह शुभ-संकल्प कहलाता है अर्थात शुभ-संकल्प विशुद्ध कर्तव्य चेतना है। इस चेतना की उत्पत्ति बुद्धि से होती है, भावना या इच्छा से नहीं।[21]

शुभ-संकल्प स्वतः निरपेक्ष शुभ है। अन्य वस्तुएं शुभ-संकल्प के कारण ही शुभ होती हैं। शुभ संकल्प किसी देश, काल, परिस्थिति या परिणाम पर निर्भर नहीं करता। जब हम किसी कामना से कोई कार्य करते हैं तो हमारी कामना परतन्त्र हो

जाती है। परन्तु यदि हम निष्काम भावना से कोई कार्य करते हैं तो शुद्ध-विचार या शुभ-संकल्प से कार्य करते हैं। शुभ-संकल्प स्वयं परम शुभ है। काण्ट इसे निःश्रेयस या सर्वोच्च शुभ मानते हैं।

इस प्रकार से शुभ-संकल्प का सम्बन्ध अनिवार्य कर्तव्य से है। जब हम भावना, इच्छा, प्रवृत्ति आदि से रहित होकर कर्म करते हैं तो हम कर्म को बुद्धि का अनिवार्य आदेश मानते हैं। यह अनिवार्य आदेश प्रत्येक बौद्धिक प्राणी का कर्तव्य है। काण्ट के अनुसार कर्म तीन प्रकार के हो सकते हैं-

1. तात्कालिक वासना से या प्रवृत्ति से प्रेरित होकर किया गया कर्म।
2. स्वार्थवश अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए किया गया कर्म।
3. केवल कर्तव्य का पालन करने के लिए किया गया कर्म।

इनमें से केवल तीसरे कर्म को काण्ट उचित मानते हैं। यही कर्म नैतिक दृष्टि से उचित है। इस कर्म को व्यक्ति इसलिए करता है कि उसे ऐसा करना ही चाहिए।[22]

कर्तव्य की चेतना से किया गया कर्म नैतिक है क्योंकि यह बुद्धि का निरपेक्ष आदेश है। प्रवृत्ति या परिणाम कार्य को सापेक्ष बना देते हैं। काण्ट का मानना है कि कोई भी कर्म कर्तव्य तभी होता है जब वह नैतिक नियमों के अुनकूल होता है।[23]

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि काण्ट के अनुसार सर्वोच्च नैतिक आदर्श अनिवार्य आदेश है। व्यक्ति को इन्हीं अनिवार्य, निरपेक्ष आदेशों के अनुसार कर्म करना चाहिए। यही अनिवार्य कर्तव्य बुद्धि का आदेश है जिसे प्रत्येक बौद्धिक व्यक्ति को पालन करना चाहिए। इसे ही कर्तव्य के लिए कर्तव्य Duty for duty sake का आदर्श माना गया है।

सुखमनी तथा काण्ट के नैतिक दर्शन के समान भगवद्गीता में भी निष्काम भावना से किए गए कर्म को ही उचित माना गया है। साधारणतया हम कर्म करते हैं तथा स्वयं को कर्त्ता समझते हैं। यही कर्त्तापन का अभिमान है या अहंकार है। निष्काम कर्मयोगी वह है जो इस अभिमान से रहित होकर कर्म करे। परन्तु कर्त्तापन के बिना कर्म कैसा ?वास्तव में किसी कर्म के पांच कारण होते हैं- अधिष्ठान, कर्त्ता, करण या इन्द्रियां, चेष्टा और दैव या ईश्वरीय शक्ति।

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्निवधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्।।[24]

इन पांचों के समूह से किसी कार्य का सम्पादन होता है। इनमें से किसी एक ही के द्वारा क्रिया का सम्पादन समझना भूल या अज्ञानता है। अधिष्ठान या देह किसी कार्य का पहला कारण है क्योंकि देह या शरीर के बिना कोई भी कार्य संभव नहीं है। शरीर के कारण भोक्ता योग्य विषयों की प्राप्ति के लिए कर्म करता है। यदि शरीर ही नहीं तो कर्म का प्रारम्भ ही संभव नहीं है। कर्त्ता को कर्म का दूसरा कारण माना गया है। कर्त्ता में चेतन शक्ति है। इस चेतन शक्ति के द्वारा ही मनुष्य निर्णय करता है कि उसे कौन सा कर्म करना चाहिए। जिससे उसे सुख मिले। यही कार्य का ज्ञान है। जब

तक किसी अनुकूल कार्य का ज्ञान न हो तब तक व्यक्ति कार्यरत नहीं होता। करण या इन्द्रियों की भी कार्यों में आवश्यकता होती है। इन्द्रियों के बिना किसी भी कर्म का सम्पादन सम्भव नहीं। हम अपनी कर्मेन्द्रियों से ही कोई कार्य करते हैं। इन कर्मेन्द्रियों का होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः इन्हें करण कहा जाता है। चेष्टा प्रयास है। कर्मेन्द्रियों के होते हुए भी यदि हम प्रयास न करें तो कार्य नहीं होगा। अतः कर्मेन्द्रियों को कर्म में लगाना चौथा कारण है। दैव या ईश्वरीय शक्ति पांचवा कारण है जैसे- नेत्र की ज्योति के पीछे सूर्य का प्रकाश कारण है। घ्राण शक्ति में वायु देवता कारण है। जब इन पांच कारणों से किसी कार्य का सम्पादन होता है तो केवल एक कर्त्ता को ही कारण मान लेना अभिमान या अहंकार के अलावा और कुछ नहीं है। हम केवल मिथ्याभिमान के कारण ही अपने आप को किसी कार्य का कर्त्ता समझ लेते हैं। इस अहंकार भावना से मुक्त होकर कर्म करना निष्काम कर्म है। अहंकार के कारण अज्ञानी स्वयं को कर्त्ता समझता है। वास्तव में आत्मा अज्ञान के कारण अपने चेतन स्वरूप को भूल जाता है तथा अचेतन प्रकृति (शरीर) के द्वारा किए गए कर्मों का कर्त्ता स्वयं को समझने लगता है-

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः
अहङ्क.ारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।'[25]

अर्थात अज्ञानवश अहंकारी शारीरिक क्रियाओं का कर्त्ता बन जाता है। सामान्य रूप से मनुष्य आसक्ति के कारण ही कोई कर्म करता है। व्यक्ति सुख प्राप्ति तथा दुःख परिहार के लिए ही कर्म करते हैं। अतः आसक्ति को ही कर्मों का मूल माना जाता है। गीता में कहा गया है कि इस आसक्ति पर विजय प्राप्त करके अनासक्त होकर कर्म का आचरण करना चाहिए। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय के द्वन्द से ऊपर उठकर कर्म करना चाहिए। साधारण मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं है क्योंकि वह सर्वदा लाभ के लिए ही कोई कर्म करता है। निष्काम कर्मयोगी लाभ-हानि की भावना से प्रेरित नहीं होता।

कर्म दो प्रकार के होते हैं- सकाम और निष्काम। सकाम कर्म बन्धन उत्पन्न करता है जबकि निष्काम कर्म बन्धन का उच्छेदक है। हम कामना या इच्छा से प्रेरित या फलांकाक्षा के वशीभूत होकर कर्म करते हैं तथा उसका शुभ या अशुभ फल भोगते हैं। पुनः कामना से प्रेरित होकर कर्म करते हैं तथा फल भोगते हैं। इस प्रकार कर्म की धारा अनवरत चलती रहती है। इस कर्म बन्धन के कारण ही व्यक्ति नाना योनियों में भटकते रहते हैं। जबकि निष्काम कर्म में कामनाओं का सर्वथा अभाव रहता है। अतः इन कर्मों से बन्धन नहीं होता क्योंकि बन्धन के मूल कारण कामना का इसमें अभाव रहता है। निष्काम कर्म तृष्णारहित कर्म है। तृष्णा के अभाव में मनुष्य कर्म करते हुए भी कर्मफल का कारण नहीं बनता। गीता में वर्णन है-

"तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार हो, फल में कभी नहीं और तू कर्मों के फल की वासना वाला भी न हो तथा तेरी कर्म करने में भी प्रीति न हो।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।"[26]

निष्काम कर्म के दो अंग हैं- कर्त्तापन का त्याग एवं आसक्ति या तृष्णा का त्याग। भूजे हुए बीज में वपन शक्ति नहीं होती उसी प्रकार राग-द्वेष से रहित कर्म में बन्धन की शक्ति नहीं होती।

परन्तु समस्या यह होती है कि कर्म के लिए प्रेरणा आवश्यक होती है। हम निष्प्रयोजन तो कोई कार्य नहीं कर सकते। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो निष्काम कर्म असंभव है। कामना रहित कर्म तो हो ही नहीं सकता। अर्थात निष्काम कर्म के दोनो अंग कर्त्तापन तथा आसक्ति का अभाव असम्भव है। अतः निष्काम कर्म भी असम्भव है। गीता में इस सन्दर्भ में कहा गया है कि कर्त्तापन का अभाव तभी हो सकता है जब व्यक्ति यह समझे कि कर्म तो प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं। प्रकृति के तीन गुण हैं- सत्व,रज तथा तम। इन तीनों से ही मन,बुद्धि,अहंकार आदि दस इन्द्रियां तथा पांच विषय उत्पन्न होते हैं। इन गुणों के कारण ही अन्तःकरण तथा इन्द्रियों का विषय ग्रहण आदि कार्य होते हैं। बुद्धि विषय का निश्चय करती है, मन मनन करता है, कान सुनता है, आंखें देखती हैं आदि सभी कार्य गुणों के द्वारा ही सम्पादित किये जाते हैं। अज्ञानी स्वयं को कर्मो का कर्त्ता मानता है। अतः मनष्य में कर्त्तापन का अभिमान केवल अज्ञान ही है।

निष्काम कर्म का अर्थ कुछ विचारक काम्य कर्मो का त्याग समझते हैं। कुछ निषिद्ध कर्मों का त्याग समझते हैं। परन्तु निष्काम कर्म नैष्कर्म्य नहीं अर्थात इसमें कर्मों का त्याग नहीं किया जाता बल्कि कर्म-फल का त्याग किया जाता है। कर्मयोग अकर्मण्यता की शिक्षा नहीं देता। अनासक्त कर्म ही बन्धन का बाधक एवं मोक्ष का साधक है। इससे स्पष्ट है कि निष्काम कर्म मोक्ष का साधन है। निष्काम कर्म आचरण ही स्वकर्म है तथा स्वकर्म ही स्वधर्म है।

सुखमनी में वर्णन है कि विभिन्न विकारों तथा अवगुणों से स्वयं को दूर रखने के लिए एक गुण की आवश्यकता है और वह है- विनम्रता। भारतीय मतों के अनुसार साधक सामान्य रूप से चार पदार्थों के इच्छुक रहे हैं तथा इन मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए वह सारे कर्म-धर्म आदि करते आए हैं। यह चार पदार्थ हैं- धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। आचार शास्त्र में सबसे महत्वपूर्ण प्रत्यय धर्म है।

धर्म शब्द धृ धातु से बना है। धृ का अर्थ धारण करना है। अतः जो धारण करने योग्य हो वही धर्म है । धर्म से मनुष्य के उन सभी कर्तव्यों का बोध होता है जिन्हें शास्त्रों ने सभी मानवीय क्षेत्रों को ध्यान में रखकर निर्धारित किया है। जीवन का धर्ममय होना आवश्यक है। जीवन के सभी क्षेत्रों में कर्तव्यों का समुचित पालन करने वाला व्यक्ति ही सच्चा धार्मिक व्यक्ति है। धर्म जीवन का एक अंश न होकर बल्कि सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त है। अर्थ और काम उसी अंश तक वांछित है जिस सीमा तक इनसे धार्मिक आचरण में सहायता प्राप्त होती है।

अर्थ का तात्पर्य है जिससे सभी प्रयोजनों की सिद्धि होती है। कौटिल्य के अनुसार अर्थ ही धर्म और काम का मूल है-

अर्थ मूलौ धर्म कामौ।। (कौटिल्य,अर्थशास्त्र)

सभी व्यक्ति स्वभाव से सुख की इच्छा करते हैं। सुख का मूल धर्म है। परन्तु धर्म का मूल भी अर्थ है क्योंकि अर्थ के बिना धर्म भी संभव नहीं है। अर्थ के बिना काम की भी सिद्धि नहीं हो सकती। अतः अर्थ को धर्म तथा काम दोनों का मूल माना गया है। अर्थ आजीविका से प्राप्त होता है। अर्थात जिससे जीविकोपार्जन हो वही अर्थ है। साधारण भाषा में हम अर्थ का सम्बन्ध धन से मानते हैं क्योंकि इसी से हमारा जीवन चलता है। मनुष्य की सभी क्रियाएं धर्म या अर्थमूलक ही होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थ का उपार्जन करने के लिए ही मनुष्य सब कुछ करता है। यह भी माना गया है कि निर्धन मनुष्य यद्यपि कितना भी गुणवान क्यों न हो, वह अपनी स्त्री, पुत्र तथा परिवार वालों से आदर नहीं प्राप्त करता। अतः मनुष्य को सर्वदा धन प्राप्त करने के लिए प्रयास करना चाहिए। निर्धन व्यक्ति का जीवन मृत्यु के समान है।

अधनस्य बुद्धिर्न विधते ।
दारिद्रयंखलु पुरूषस्य मरणम ।। (चाणक्य सूत्र 4/58)

परन्तु यह भी माना गया है कि अर्थ जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है लेकिन इसका उपार्जन तथा उपभोग दोनों धर्म के आधार पर होना चाहिए। ऐसा न होने पर अर्थ अनर्थ का रूप ले लेता है। अर्थ का समुचित उपयोग न होने से मनुष्य पाप का भागी बनता है। अर्थ का सबसे बड़ा दोष अहंकार व मोह है । अतः मनुष्य को इन दोषों से बचना चाहिए।

काम शब्द अत्यन्त व्यापक है। कामना, इच्छा, वासना, स्पृहा, तृष्णा आदि सभी को काम माना गया है। पांच इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के साथ जो विषयों का सम्बन्ध होता है तथा बुद्धि के साथ जो विषयों का सम्बन्ध होता है तथा उस सम्बन्ध से जो आनन्द या सुख उत्पन्न होता है वही काम हैं। तात्पर्य यह है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों के साथ नेत्र, कान, नासिका, रसना तथा त्वचा का सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क के फलस्वरूप सुख या आनन्द का अनुभव होता है। यह विषय का आनन्द है। इसे ही काम कहा जाता है। काम शब्द के तीन अर्थ हैं- सुख, सुख के साधन, सुख की कामना। काम स्वयं सुखरूप हैं। यह सुख का प्रधान साधन भी माना जाता है तथा इसी को सुख के लिए इच्छित पदार्थ भी कहा जाता है। परन्तु इन्द्रिय सुख के लिए काम अधिक प्रचलित है। इन्द्रिय सुख विषय तथा इन्द्रिय के सम्पर्क से उत्पन्न होता है।

काम शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से दो अर्थों में किया जाता है-व्यापक तथा संकुचित। व्यापक अर्थ में सभी प्रकार की इच्छा,कामना,अभिलाषा आदि की ओर संकेत करता है तथा भावना पक्ष को सन्तुष्ट करता है। संकुचित अर्थ में यह केवल यौन सुख की ओर संकेत करता है। यौन सुख तो पशु व मनुष्य दोनों में होता है परन्तु मनुष्य नियन्त्रित सुख प्राप्त करता है। वह भोग करता है परन्तु योग के साथ। इस

प्रकार काम केवल पाशविक सुख नहीं बल्कि नियन्त्रित भोग है। गीता में कहा गया है कि काम, क्रोध तथा लोभ पर नियन्त्रण न रखने से नरक के द्वार खुल जाते हैं। काम को महान पापी भी कहा गया है। यह रजोगुण से उत्पन्न होता है और अग्नि के समान कभी भोगों से तृप्त नहीं होता।

मोक्ष शब्द का अर्थ छुटकारा पाना है। इसे प्राप्त कर ही मनुष्य सभी प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा सकता है। दुःख तीन प्रकार के होते हैं- आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक। व्यक्ति दुःख क्यों भोगता है तथा इनसे मुक्ति कैसे प्राप्त कर सकता है ? व्यक्ति अज्ञान या अविद्या के कारण ही दुःख पाता है तथा ज्ञान के कारण मुक्त हो जाता है। इसलिए अज्ञान को बन्धन का कारण माना गया है तथा ज्ञान को मोक्ष का कारण माना गया है। अज्ञान के कारण ही व्यक्ति अनित्य, अनात्म को नित्य व आत्म समझने लगता है। ज्ञान से ही इस विचार का नाश होता है। हम अज्ञान के कारण आसक्त भाव से कर्म करते हैं। यही कर्म बन्धन का जनक है। कर्म के शुभाशुभ के फलस्वरूप संसार की अनवरत धारा चलती रहती है। जिस प्रकार अग्नि में घृत डालने से अग्नि बढ़ती जाती है, उसी प्रकार विषयों की प्राप्ति से भोग की लालसा बढ़ती जाती है। अज्ञान के कारण ही विषयों के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है तथा बन्धन होता है। ज्ञान से ही इस अज्ञान का नाश सम्भव है। इसी कारण अधिकांश भारतीय दार्शनिक ज्ञान के महत्व को स्वीकार करते हैं। यह सांसारिक ज्ञान नहीं बल्कि अध्यात्म या तत्वज्ञान है। तत्व की दृष्टि से संसार में एक ही तत्व है ब्रह्म या आत्मा। इसी तत्व ज्ञान से संसार का विकास सम्भव है।

मोक्ष भी दो प्रकार का माना जाता है- सदेह मोक्ष तथा विदेह मोक्ष। शरीर के विद्यमान रहते हुए भी जब मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह जन्म-मरण के चक्र से विमुक्त हो जाता है। शरीर के रहते हुए भी उसे अमरत्व का लाभ हो जाता है। परन्तु पूर्व संस्कार पूर्णतः नष्ट नहीं होते। अतः संस्कारों की समाप्ति तक उसे शारीरिक अवस्था में रहना पड़ता है। संस्कार के समाप्त होने पर उसका शरीर छूट जाता है। वह आवगमन के चक्र से सर्वथा मुक्त हो जाता है। प्रथम जीवन मुक्ति है तथा दूसरी विदेह मुक्ति।

सांख्यमत के अनुसार पुरुष तथा प्रकृति दो भिन्न परम तत्व हैं। सुख-दुःख मानस में ही होता है। मानस प्रकृति का ही विकसित रूप है। जब अज्ञानतावश पुरुष अपने को मन से मिला लेता है तब मन में पाए जाने वाले सुख-दुःख को वह अपना सुख-दुःख समझ लेता है। जब पुरुष को प्रकृति से अपनी भिन्नता का ज्ञान होता है तब वह बन्धनमुक्त हो जाता है तथा उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष एक ऐसी अवस्था है जिसमें पुरुष सुख-दुःख की अनुभूति से सर्वथा मुक्त हो जाता है। यह एक अनुभवरहित अवस्था है। इसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन ज्ञान है।

वैशेषिक मत के अनुसार भी मोक्ष अनुभवरहित अवस्था है। अुनभव के कारण ही दुःख होता है। दुःखों से पूर्ण छुटकारा पाने के लिए आत्मा को सभी गुणों से

मुक्त करना आवश्यक है। वैशेषिक नौ गुणों की चर्चा करता है- बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार। मुक्त अवस्था में आत्मा इन गुणों से मुक्त हो जाती है। आत्मा में इस स्थिति में चेतना की भी अनुपस्थिति हो जाती है। इस अवस्था में सुख या दुःख की अनुभूति नहीं होती केवल अचेतन रूप से संतोष मिलता है।

न्याय मत वैशेषिक की भांति मोक्ष को अनुभवरहित अवस्था मानता है। यह मत मोक्ष की अवस्था में सुख-दुःख के साथ संतोष को भी स्थान नहीं देता। सुख तथा दुःख सदैव साथ-साथ रहते हैं। यदि मोक्ष की अवस्था में संतोष सुख को मान लिया जाए तो उसके साथ दुःख भी आ जाएगा इसलिए नैयायिक मोक्ष को पूर्णतया अनुभवरहित अवस्था मानते हैं।

वेदान्त मत के अनुसार मोक्ष आनन्द की अवस्था है। जब आत्मा और परमात्मा का द्वैत समाप्त हो जाता है, जब जीव 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह बन्धन मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है। इस अवस्था में जीव या आत्मा को असीम आनन्द की प्राप्ति होती है। मोक्ष इस जीवन में भी सम्भव है। आत्म ज्ञान ही मोक्ष का साधन है।

बौद्धमत के अनुसार मोक्ष दुःखरहित अवस्था का नाम है। इसमें सुख की अनुभूति नहीं होती। इस जीवन में भी अष्टांगिक मार्ग का पालन करने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। विदेह मुक्ति शरीर के नष्ट हो जाने के बाद मिलती है तथा व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है।

जैनमत के अनुसार मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य है। जीवन तथा पुद्‌गल के संयोग के कारण ही बन्धन होता है। अतः मोक्षावस्था में जीव को पुद्‌गल से पूर्ण छुटकारा मिल जाता है। बन्धन का मूल कारण क्रोध, अभिमान, लोभ तथा माया है। इन चारों के मूल में भी अविद्या या अज्ञान रहता है। इसलिए अज्ञान ही बन्धन का मूल कारण है।

मोक्ष प्राप्ति के साधनों के संबध में भारतीय दर्शन में विभिन्न मत हैं। जैनमत के अनुसार त्रिरत्नों को मोक्ष का साधन माना गया है। यह त्रिरत्न है- सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र। इसके विपरीत मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या चरित्र यह सांसारिक मार्ग हैं। मोक्ष मार्ग वही है जिससे व्यक्ति दुःख व उसके कारणों से छुटकारा पा सके। सम्यक् दर्शन का अर्थ है सच्ची आस्था या श्रद्धा। इसके आठ अंग बताए गये हैं-

1. निश्शंकता अर्थात सत्य मार्ग के अनुसरण में अविचल विश्वास होना चाहिए।
2. तिःकाक्षिता अर्थात किसी प्रकार के लौकिक सुख की कामना न करते हुए साध को निष्काम होकर साधना में लगना चाहिए।
3. निर्विचिकित्सा अर्थात शारीरिक वैभव या दरिद्रता पर ध्यान न देकर गुणों पर ही ध्यान देना चाहिए।

4. अमुद्ध दृष्टि अर्थात इतना विवेक हो कि सन्मार्ग से विचलित न हो तथा कुमार्ग पर चलने वालों की बातों में न आए।
5. उपबृंहण अर्थात अपने गुणों को बढ़ाते रहने का प्रयत्न करना चाहिए।
6. स्थितिकरण अर्थात किसी भी प्रलोभन में न पड़कर सुदृढ़ रहना चाहिए।
7. वात्सल्य अर्थात अपनी सहयोगी धर्मावलम्बियों से स्नेह करना चाहिए।
8. प्रभावना अर्थात सच्चे धर्म का प्रचार करना चाहिए।

सम्यक् ज्ञान अर्थात जीव तथा अजीव के मूल तत्वों का ज्ञान प्राप्त करना। सम्यक ज्ञान का तात्पर्य मिथ्या दृष्टि के निवारण से है।

सम्यक् चरित्र के दो अंग हैं-प्रवृत्ति मूलक तथा निवृत्ति मूलक। प्रवृत्ति मूलक चरित्र बंधन का कारण है तथा निवृत्ति मूलक चरित्र मोक्ष का कारण है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रहण यह सम्यक चरित्र के अंग हैं।

अहिंसा को जैन दर्शन में परम धर्म माना गया है। किसी भी प्रकार की हिंसा को जैन दर्शन में पाप माना गया है।

मिथ्या वचन के परित्याग तथा यथादृष्ट वस्तु के स्वरूप का कथन ही सत्य कहलाता है। हित की भावना से ओत-प्रोत वचन ही सत्य वचन कहा जाता है।

सर्वथा चोर वृत्ति का त्याग करना अस्तेय कहलाता है। स्वयं चोरी करना या चोरी करने की प्रेरणा देना, या चोरी की प्रशंसा करना अथवा चोरी का माल खरीदना, किसी को नाप तोल में कम या अधिक देना, कम कीमत की वस्तु अधिक में बेचना तथा अधिक कीमत वाली वस्तु को कम में खरीदना, इन सभी की चौर वृत्ति से बचना ही अस्तेय है।

काम वासना का परित्याग ही बृह्मचर्य है। अश्लील बातों का त्याग, शक्ति से अधिक भोग करना आदि ब्रह्मचर्य के अंग हैं।

विषय आसक्ति का त्याग ही अपरिग्रह है। स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि में जो आसक्ति है वही ममत्व कहलाता है। इसका त्याग ही अपरिग्रह है।

सांख्य दर्शन के अनुसार विवेक ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। इस विवेक के कारण ही आत्मा का अनात्म पदार्थों से भेद सम्भव है। प्रकृति तभी तक कर्मों का भोग उत्पन्न करती है जब तक पुरूष में विवेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। सांख्य दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के बाद पुरूष का मोक्ष हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्मों के प्रभाव से शरीर चलता है अर्थात शरीर और आत्मा का पूर्णतः विच्छेद नहीं होता। यही जीवन मुक्ति की अवस्था है। यह अवस्था आत्मज्ञान की है तथा इसमें सभी धर्म-अधर्म बीज भाव रूप से नष्ट हो जाते हैं परन्तु प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट होने के कारण साधक काशरीर चक्र के समान घूमता रहता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार मोक्ष ज्ञान-साध्य है। अज्ञान या अविद्या के कारण ही आत्मा में अनात्मा का अध्यास होता है। तथा आत्मा में दुःखी, कर्त्ता, भोक्ता आदि का व्यवहार होता है।

अविद्या के नष्ट होने पर सभी कामनाएं नष्ट हो जाती हैं और जीव अमर हो जाता है। इस प्रकार से ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति ही मोक्ष का स्वरूप माना गया है। ज्ञान तथा कर्म दोनों मोक्ष के साधन माने गये हैं। शंकराचार्य मोक्ष को ज्ञान साध्य मानते हैं, कर्म साध्य नहीं। अज्ञान का पूर्णतया क्षय होने पर ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। व्रत, दान, यज्ञ, सत्य, तीर्थ, आश्रम व कर्मयोग यह सभी स्वर्ग के हेतु हैं। ज्ञान नित्य और परमार्थ रूप हैं। शंकर के अनुसार मोक्ष अज्ञान की निवृत्ति है। अज्ञान का नाश केवल ज्ञान से ही होता है। शंकर जीवन मुक्ति का प्रतिपादन करते हुए मानते है कि ज्ञानी जीवित अवस्था में ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। ज्ञानोदय के लिए 'साधन-चतुष्टय' की आवश्यकता होती है-

➢ नित्यानित्यवस्तुविवेक अर्थात साधक को नित्य और अनित्य का भेद ज्ञान होना चाहिए। यही विवेक है।

➢ इहमुत्रार्थभोगविरागः अर्थात लौकिक तथा पारलौकिक सभी प्रकार के भोग से वैराग्य आवश्यक है। यह वासना का पूर्ण अभाव है।

➢ शमदमादिसाधनसम्पत् अर्थात साधक को मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, शास्त्र में निष्ठा, चित्त को ज्ञान के साधन में लगाना, विक्षेपकारी कार्यों से अलग होना तथा शीत व उष्ण को सहन करने का सामर्थ्य होना चाहिए।

➢ मुमुक्षत्वं अर्थात मोक्ष प्राप्ति के लिए कृत संकल्प होना चाहिए।

इस साधन-चतुष्टय के पश्चात श्रवण,मनन तथा निदिध्यासन से ही मोक्ष का लाभ प्राप्त करना चाहिए।

.रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुसार जन्म तथा मरण के बन्धन का सर्वथा विनाश ही मोक्ष है । रामानुज मोक्ष के साधन के रूप में भक्ति सहित ज्ञान को स्वीकार करते हैं। यह न तो कोरा ज्ञान है और न केवल भक्ति। यह दोनों की सम्मिलित अवस्था है। रामानुज के अनुसार भक्ति ज्ञान से भिन्न नहीं है भक्ति भगवान के प्रति प्रेम है। यह तभी हो सकता है जब भगवान के अलावा किसी अन्य विषय में प्रेम न हो। इस भक्ति को प्राप्त करने के लिए चित्त विशुद्धि की आवश्यकता है। चित्त विशुद्ध तभी होता है जब सांसारिक विषयों के प्रति अनास्था होती है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा है। चित्त में विशुद्ध ज्ञान होने पर ही संसार से विकर्षण तथा परमात्मा के प्रति आकर्षण सम्भव है। अतः रामानुज भक्ति को ज्ञान का ही रूप मानते हैं। भक्ति भी दो प्रकार की होती है- साधन व परमा भक्ति। साधन भक्ति पहली अवस्था है। इस अवस्था में भक्त संसार से विमुख होकर ईश्वर की ओर उन्मुख होता है। वह शम, दम आदि साधनों से अपने मन को निर्मल बनाता है तथा विशुद्ध चित्त को ईश्वर में लगाता है। दूसरी अवस्था परा भक्ति है। इसमें साधक ईश्वर का दर्शन करता है। वह ईश्वर से एकाकारता का अनुभव करता है। प्रपत्ति शरणागति है अर्थात ईश्वर के अुनकूल विचार, संकल्प और कर्म करना, ईश्वर के प्रतिकूल विचार, संकल्प तथा कर्म न करना, भगवान की रक्षा में विश्वास व प्रार्थना करना, ईश्वर के चरणों में स्वयं को

समर्पण करना तथा दीन भाव का प्रदर्शन करना।

रामानुज जीवन मुक्ति को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जब तक शरीर रहता है, कर्म भी होगा । कर्म के पूर्ण विनाश के बिना शरीर का विनाश सर्वथा नहीं हो सकता । अतः शरीर के रहते जीवन मुक्ति नही मिल सकती।

यद्यपि मुक्ति या मोक्ष को भिन्न-भिन्न मतों ने भिन्न-भिन्न शब्दों से निरूपित किया है लेकिन सभी का भाव या तात्पर्य जीवन को सफल बनाकर मुक्त करना है। सुखमनी में मुक्ति के अर्थ में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है। उनमें मुख्य हैं- मुक्ति, गति, परमगति, निरबाण, मोक्ष, उधार, सहज सुख व बिसराम आदि। जैसे-

हरि की भगति मुकति बहु करे।।[27]
नानक चउथे पद महि सो जन गति पाए।।[28]
जिस प्रसाद परम गति पावहि।।[29]
ग्रिहस्त महि सोई निरबानु।।[30]
नानक सन्त भावै ता उसका भी होई मोखु।।[31]
इउ रतन जनम का होइ उधारू।।[32]
मिट गए गवन पाए बिसराम ।।[33]
आतम रसि सुखि सहज समावहि।।[34]
आप मुक्त मुकत करै संसार।।[35]

सुखमनी का मुक्त जीव प्रभु रंग में रंगा होता है। वह न तो कर्मों का त्याग करता है तथा न ही कर्मों को अपनी इच्छा के अधीन करता है। बल्कि ईश्वरीय इच्छा या आज्ञा में करता है। सभी कर्मों का कर्त्ता ईश्वर को मानता है तथा सुख-दुःख सभी अवस्थाओं को समान समझता है। सुखमनी का यह सिद्धान्त गीता के समान है। मुक्त जीवन स्तुति व निन्दा से विचलित नहीं होता। उसके लिए सुख-दुःख एक समानहैं। सुखमनी भारतीय विचारधारा से पूर्ण रूप से प्रभावित प्रतीत होती है। सुखमनी में मुक्ति की प्राप्ति के साधनों की भी व्याख्या हुयी है जैसे साध-संगति, नाम सिमरन आदि जिसके बिना मुक्ति संभव ही नही है।

सुखमनी के अनुसार साध की संगति से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों की प्राप्ति संभव है। लेकिन यदि इससे भी बड़ी प्राप्ति की इच्छा हो तो नम्र होना अत्यन्त आवश्यक है। विनम्रता ही श्रेष्ठ मनुष्य का श्रंगार होता है-

चार पदारथ जे को मागै।
साध जना की सेवा लागै।।
जे को अपुना दूख मिटावै।
हरि हरि नामु रिदै सद गावै।।
जे को अपुनी सोभा लोरै।
साध संगि इह हउमै छोरै।।
जे को जनम मरण ते डरै।

साध जना की सरनी परे।।[36]

विनम्रता ही किसी लक्ष्य तक पहुंचने का सही मार्ग है। विनम्र होकर ही ऊंचा बनने का अधिकारी बना जा सकता है। विनम्रता का त्याग करके जो झूठे अभिमान का शिकार होता है उसे वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं होती। जिस व्यक्ति की आत्मा इस लोक में ही द्रवीभूत नहीं होती, दूसरों के लिए सुहृदय नहीं होता, जिसमें सन्तोष नहीं होता उस व्यक्ति के समस्त कार्य व्यर्थ होते हैं। विनम्रता सिख धर्म का विशिष्ट गुण है। जब नम्रता या अन्य उचित साधन निष्फल हो जाए तो उस परिस्थिति में तलवार उठा लेना न्यायसंगत होता है।

विनम्रता के साथ-साथ समदृष्टि को आचरण का महत्वपूर्ण तत्व माना गया है। अच्छे-बुरे, धनी-निर्धन, मित्र-शत्रु सभी को एक दृष्टि से देखना समदृष्टि है। समदृष्टा किसी को भी अच्छा-बुरा या छोटा-बड़ा न समझकर उसे परमात्मा का रूप समझता है।

वर्तमान संसार में यह बात यथार्थ नहीं लगती तथा न ही कोई इसे सरलता से स्वीकार कर सकता है। लेकिन सुखमनी में सम्पूर्ण मनुष्य या आदर्श मनुष्य का आवश्यक लक्षण मानते हुए बार-बार इस बात का वर्णन है कि ब्रह्मज्ञानी राग-द्वेष तथा सुख-दुःख में समान रहता है तथा हर मित्र-शत्रु, राजा-रंक, ऊंच-नीच सभी को समदृष्टि से देखता है।

ब्रह्म गिआनी कै द्रिसटि समानि।
जैसे राज रंक कउ लागै तुलि पवान।।[37]

इस समदृष्टि में बुराई अंश मात्र भी नहीं होती बल्कि समस्त की भलाई या शुभ चिन्तन होता है-

ब्रह्म गिआनी सदा समदरसी।
ब्रह्म गिआनी की द्रिसटि अंमि्रतु बरसी।।[38]

ऐसे स्वभाव वाले व्यक्ति को मृत्यु के बाद मुक्ति की आवश्यकता नहीं होती। वो जीवित रहते हुए ही मुक्त है क्योंकि वह सभी की भलाई के लिए कार्य करता है तथा सब उसके शुभ चिन्तक होते हैं-

प्रभु की आगिआ आतम हितावै।
जीवन मुकति सोऊ कहावै।।
तैसा हरखु तैसा उसु सोगु।
सदा अनन्दु तह नहीं बिओगु।।
तैसा सुवरनु तैसी उसु माटी।
तैसा अंमि्रतु तैसी बिखु खाटी।।
तैसा मानु तैसा अभिमानु।
तैसा रंकु वैसा राजानु।।
जो वरताए साई जुगति।

नानक ओहु पुरखु कहीऐ जीवन मुकति।।[39]

समदृष्टा होना सामान्य लक्षण नहीं है। किसी-किसी व्यक्ति में ही यह गुण होता है। ऐसा व्यक्ति द्वेष भावना से उपर उठ जाता है तथा उसे चारों ओर ईश्वर का रूप ही दिखता है इसलिए वह किसी को तिरस्कार की दृष्टि से देख ही नहीं सकता।

हुक्म या आज्ञा पालन को भी आचरण के लिए महत्वपूर्णमाना गया है। जो अहंकारी व्यक्ति यह समझता है कि सब कुछ उसने स्वयं किया वह भ्रम का शिकार है। इसलिए सुखमनी में यह बात निश्चित करायी गयी है कि सच्चे या वास्तविक सुख की प्राप्ति ईश्वर की आज्ञा में चलने में है तथा खुशी-खुशी आज्ञा या हुक्म को स्वीकार करना ही उचित है-

करण कारण प्रभु एक है। दूसर नाही कोइ।।
नानक तिसु बलिहारणै जलि थलि महीअलि सोइ।।[40]

उस प्रभु की आज्ञा में कार्य करने से संतुष्टि का अनुभव होता है-

मानुख की टेक ब्रिथी सभ जान।
देवन कउ एकै भगवानु।।
जिस कै दीऐ रहै अघाइ।
बहुरि न त्रिसना लागै आइ।।[41]

वास्तविकता यह है कि मनुष्य कुछ भी करने योग्य नहीं है, सब कुछ करने वाला परमेश्वर है। तब उस सामर्थ्यवान के समक्ष सर झुकाना आवश्यक है-

जिस ठाकुर सिऊ नाही चारा।
ता कऊ कीजै सद नमस्कारा।।[42]

यद्यपि दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से यह मान्यता उचित नहीं है क्योंकि नैतिकता की पूर्व मान्यता संकल्प की स्वतन्त्रता है। यदि व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र ही नहीं है तो उसे किसी भी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। यदि सब कुछ नियतिवाद के अधीन है तो व्यक्ति के द्वारा किए जाने वाले कार्यों का क्या औचित्य है ? विशेष रूप से जर्मन दार्शनिक काण्ट ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। यह अवश्य है कि फल की आशा से किए जाने वाले कार्य को उचित स्वीकार नहीं किया गया किन्तु फिर भी संकल्प की स्वतन्त्रता को नैतिकता की आवश्यक पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार किया गया है। यदि मनुष्य संकल्प करने में स्वतन्त्र नहीं है तो उसके द्वारा किया गया कर्म उसका ऐच्छिक कर्म नहीं कहा जा सकता। यदि कोई कार्य व्यक्ति का ऐच्छिक कर्म नहीं तो वह उसके लिए उत्तरदायी भी नहीं। यदि वह उत्तरदायी नहीं तो कार्य को नैतिक दृष्टि से उचित या अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार से संकल्प की स्वतन्त्रता को माने बिना नैतिक निर्णय सार्थक नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त कर्मवाद भी है। इसी सिद्धान्त के आधार पर बन्धन और मोक्ष की व्याख्या की जाती है। यह माना जाता है

कि हम अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कर्म करते हैं तथा उसका फल भोगने के लिए संसार में आते हैं। इस प्रकार से मानव जन्म का कारण उसका पूर्व कर्म ही है। यदि मनुष्य अपनी इच्छा से कर्म न करे तो बन्धन में भी न पड़े।

सुखमनी में यह माना गया है कि सेवक के लिए यही मार्ग उचित व सुखदायी है कि वह स्वामी की आज्ञा का पालन करे तथा स्वयं को उसके समर्पण कर दे। इससे उसकी खुशी में और बढ़ोतरी होगी-

जिस की बसतु तिसु आगे राखै।
प्रभ की आगिआ मानै माथै।।
उस ते चउगुन करै निहालु।
नानक साहिबु सदा दइयालु।।[43]

इसलिए श्रेष्ट मनुष्य वही है जो ईश्वर की आज्ञा में चलते हैं तथा उसकी आज्ञा को स्वीकार करते हैं।

आज्ञा में चलने वाली अवस्था के अनुकूल बनने के लिए सिमरन की आवश्यकता को माना गया है। अहंकार छोड़कर नम्रता धारण करने का सन्देश है, समदृष्टि रखने का उपदेश है। यह ऐसे गुण हैं जिसके माध्यम से आज्ञा में चलने के योग्य बना जा सकता है। इसलिए सुखमनी में यह माना गया है कि साधना मार्ग जहां व्यक्ति को उच्चता की ओर ले जाता है वही बुराइयों, अवगुणों से दूर करके उसे इतना पवित्र बनाता है कि उसमें स्वतः दैवीय गुण उत्पन्न हो जाते हैं तथा मनुष्य श्रेष्ठ आचरण का स्वामी बन कर समस्त का भला चाहने वाला हो जाता है। मन, वचन तथा कर्म से वह परोपकार वाला जीवन बिताता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः उस पर अपने आस-पास रहने वालों का प्रभाव अवश्य होता है। केवल ज्ञान या कोई अन्य साधन व्यक्ति का काया-कल्प नहीं कर सकता। जिस प्रकार का वातावरण हो उस का व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए सुखमनी में श्रेष्ठ मनुष्यों के मेल-जोल या साध की संगति को एक विशेष साधन माना गया है-

साध कै संगि आवहि बसि पंचा।
साध संगि अंमृत रसु भुंचा।।[44]

श्रेष्ठ मनुष्यों की संगति में रहने से आदर की प्राप्ति होती है, अहंकार समाप्त हो जाता है तथा बुद्धि विकारों से रहित हो जाती है-

साध कै संगि मुख ऊजल होत।
साध संगि मलु सगली खोत।।
साध कै संगि मिटै अभिमानु।
साध कै संगि प्रगटै सुगिआनु।।[45]

इसलिए आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए जहां प्रभु सिमरन तथा अन्य गुण आवश्यक हैं वही नेक व्यक्तियों की संगति भी अत्यन्त आवश्यक है। यह

अनुभवात्मक सत्य है कि साध की संगति से मन की बुराइयों का नाश होता है। डा. सुरेन्द्र सिंघ कोहली के अनुसार- 'भले पुरूषों की संगति को साध-संगति के नाम से जाना जाता है। सन्तों की इस संगति में व्यक्ति का मन पवित्र हो जाता है।'[46]

डा. जोगिन्दर सिंघ के अनुसार 'संगति से अर्थ है मेल-मिलाप। साध संगति से तात्पर्य है श्रेष्ठ पुरूषों का मेल मिलाप। निर्गुण भक्ति में साध संगति एक स्कूल का दर्जा रखती है जिसमें मनुष्य का सदाचारी, बौद्धिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास होता है। आध्यात्मिक जीवन की सफलता का भेद साध संगति से मिलता है।'[47]

महान कोश में साध संगति के अर्थ नेक मुहब्बत या उत्तम लोगों की संगति लिया गया है।[48]

डा. जे. आर. मिश्र के अनुसार- 'जिस प्रकार पत्थर के स्पर्श से लोहा कंचन में परिवर्तित हो जाता है। उसी प्रकार पापी-जन भी साध संगति के प्रभाव से शुद्ध होकर गुरमुख हो जाते हैं। जिस प्रकार लकड़ी के साथ लोहा भी पार हो जाता है, उसी प्रकार साध संगति के साथ पापी जन भी भव सागर से तर जाते हैं।'[49]

डा. महिन्दर कौर गिल के अनुसार- 'साध संगति करने का लाभ भी कम नही है। संसार रूपी अज्ञान को इन्हीं की संगत द्वारा पार किया जा सकता है। साध संगति द्वारा निर्मल उत्तम तथा धैर्य वाली बुद्धि मिलती है जिससे मन के विकार दूर हो जाते हैं तथा जीव जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।'[50]

साध संगति करने से जहां मानसिक विकार दूर होते हैं वही मनुष्य-मनुष्य में निकटता उत्पन्न होती है। एक-दूसरे को सही ढंग से समझने का अवसर प्राप्त होता है। परस्पर सहयोग की भावना का विकास होता है। इस प्रकार से साधारण व सामान्य समाज अच्छे व उच्च समाज में बदल जाता है।

सन्दर्भ

1. I.C.Sharma, Ethical Philosophy of India, p. 29
2. Narayan, The Outline of Madhvan Philosophy, p. 161
3. "Religion is nothing but morality touched with emotion." बद्रीनाथ सिंघ, नीतिशास्त्र, पृष्ठ 23
4. "Morality is led beyond itself into a higher form of goodness, it ends in what we may call religion." Bradley, Appearance and Reality, p. 388
5. "It is the law that ought to be obeyed by all rational beings, and for its own sake, it's form is therefore universal, and this fact makes its binding on rational beings only, since they alone are capable of conceiving universal law, and acting in accordan therewith." R. A. P. Rogers, A Short History of Ethics, p. 194
6. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 265
7. वही, पृष्ठ 281
8. वही, पृष्ठ 272
9. वही, पृष्ठ 281
10. वही, पृष्ठ 269
11. वही, पृष्ठ 281
12. वही, पृष्ठ 286
13. वही, पृष्ठ 271
14. वही, पृष्ठ 282
15. वही, पृष्ठ 285
16. वही, पृष्ठ 274
17. वही, पृष्ठ 269
18. वही, पृष्ठ 286
19. वही, पृष्ठ 274
20. "It is the that ought to be obeyed by all beings in all circumstances."R. A. P. Rogers, A Short History of Ethics, p. 194
21. "Nothing can possibly be conceived in this world or even out of it which can be called good without qualification except a good will." Kant, Metaphysics of Morals, p. 61
22. "Thou ought therefore thou canst'." Kant, Critique of Practical Reason

23. "In order that an action should be morally good, it is not enough that it confirms to the moral law, but it must also be done for the sake of the law." Kant, Metaphysics of Morals, p. 62
24. भगवद्गीता, अध्याय 18, श्लोक 14
25. वही, अध्याय 3, श्लोक 27
26. वही, अध्याय 2, श्लोक 47
27. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 271
28. वही, पृष्ठ 284
29. वही, पृष्ठ 270
30. वही, पृष्ठ 281
31. वही, पृष्ठ 280
32. वही, पृष्ठ 280
33. वही, पृष्ठ 278
34. वही, पृष्ठ 276
35. वही, पृष्ठ 295
36. वही, पृष्ठ 266
37. वही, पृष्ठ 272
38. वही, पृष्ठ 272
39. वही, पृष्ठ 275
40. वही, पृष्ठ 276
41. वही, पृष्ठ 281
42. वही, पृष्ठ 268
43. वही, पृष्ठ 268
44. वही, पृष्ठ 271
45. वही, पृष्ठ 271
46. S. S. Kohli , A Critical syudy of Adi Granth, p. 296
47. जोगिन्दर सिंघ, सुखमनी साहिब का दार्शनिक आधार, पृष्ठ 353
48. काहन सिंघ नाभा, महान कोश, पृष्ठ 137
49. जय राम मिश्र, श्री गुरू ग्रन्थ दर्शन, पृष्ठ 265
50. महिन्दर कौर गिल, गुरू अर्जुन देव : जीवन ते बाणी, पृष्ठ 135

सुख का सिद्धान्त

प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य सुख प्राप्ति है। स्वाभावतः ही मनुष्य सुखी होना चाहता है। अतः उसी कार्य को करता है जिससे उसे सुख मिले। मानव स्वभाव का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि मानव के मुख्य दो उद्देश्य है- सुख प्राप्ति तथा दुःख परिहार। प्राणिमात्र के प्रत्येक प्रयत्न का लक्ष्य यही है कि ज्यादा से ज्यादा सुख प्राप्त हो। शरीर की, मन की, इन्द्रियों की व आत्मा की संतुष्टि हो लेकिन यह सन्तुष्टि सबकी व्यक्तिगत अनुभूति है। जो किसी को अच्छा लगता है वह सुख है और जो नहीं अच्छा लगता वह दुःख है लेकिन ऐसा हो सकता है कि एक व्यक्ति को कोई चीज अच्छी लगे और दूसरे को नहीं इसलिए सुख एक आत्म संतुष्टि की मानसिक अवस्था है जो किसी को किसी भी वस्तु के माध्यम से प्राप्त हो सकती है। इसलिए ऐसे कर्म जो सुख प्राप्ति के साधन हैं, शुभ हैं तथा जिनसे इस लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती, अशुभ हैं।

वास्तव में सुख तथा दुःख क्या है ? सुख शब्द के अनेक अर्थ हैं। कुछ व्यक्ति दुःख के अभाव को सुख कहते हैं कुछ आनन्द प्राप्ति को । कुछ विद्वानों के अनुसार सुख भावना है तो कुछ के अनुसार यह आनन्ददायक विचार है। कुछ विचारकों के अनुसार दुःख का अभाव ही सुख है। दुःख शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का होता है। अतः दोनों प्रकार के दुःखों का अभाव ही सुख है। इस मत को मानने वाले एपिक्यूरस महोदय हैं। वह वर्तमान के क्षणिक सुख को नहीं मानते। उनके अनुसार सुख तो चित्त की शान्त अवस्था है। इस अवस्था की प्राप्ति तभी होती है जब शरीर और मन में दुःख न हो। इस प्रकार दुःख निवृत्ति ही सुख लाभ है। यदि कोई सुख बाद में दुःख उत्पन्न करने वाला हो तो वह हेय है तथा यदि कोई दुःख बाद में स्वयं से बढ़कर सुख उत्पन्न करने वाला हो तो आदेय है।

सुख व दुःख दो अनुभव हैं जिनके कारण व्यक्ति सुखी या दुःखी होता है। सुख की सबसे साधारण परिभाषा यही हो सकती है कि मानव की हर इच्छा, प्रत्येक संकल्प पूरा हो जाए तो सुख है। वास्तव में मानव दुःखी तब होता है जब उसकी इच्छा पूरी नहीं होती। सांसारिक पदार्थ कुछ समय की खुशी ही प्रदान करते हैं। मनुष्य जितना ज्यादा इनका भोग करता है उसकी तृष्णा और बढ़ती जाती है। मनुष्य की इच्छा होती है कि उसको अधिक से अधिक सुख मिले परन्तु इस इच्छा के कारण ही उसे दुःख मिलता है क्योंकि इच्छाएं असीमित हैं और पूर्ति के साधन सीमित। इसलिए इच्छाएं कभी भी पूर्ण रूप से तृप्त नहीं हो सकतीं, जिस कारण से मनुष्य असन्तुष्ट रहता है और यह असन्तुष्टता ही दुःख का मूल कारण कही जा सकती हैं।

जिस प्रकार से मनुष्य को जो अच्छा लगता है वह सुख है और जो नहीं वह दुःख। उसी प्रकार से समाज को जो बात पसन्द नहीं आती, वह पाप या बुराई है और इसके विपरीत पुण्य, नेकी या अच्छाई। इस सामाजिक मान्यता को कई बार धर्म

ईश्वरीय आज्ञा या देवाज्ञा का नाम देकर अधिक प्रभावकारी बनाने का प्रयत्न करता है जिससे व्यक्ति समाज की मर्यादा का पालन करने में संकोच न करे। समाज का आदेश है कि झूठ न बोलो, किसी की वस्तुओं को न चुराओ, किसी का दिल न दुखाओ। यह पाप है, बुराई है तथा इनका फल दुःख है। इनसे दूर रहना ही जीवन का सही मार्ग है। इस बात से यह निष्कर्ष निकलता है कि जहां कुछ सीमा तक व्यक्तिगत स्वीकृति का नाम सुख है वहीं सामाजिक स्वीकृति वाले कार्य करने पर भी सुख की प्राप्ति होती है ।

अब प्रश्न यह है कि यह पसन्द आने वाली बात कौन सी है ?पसन्दीदा वस्तु का लक्षण क्या है ? शरीर को स्पर्श अच्छा लगता है, कर्ण मधुर संगीत सुनना चाहता है, नाक सुगन्ध की शौकीन है तथा जीभ सुस्वादु पदार्थ का सेवन करके खुश है। इस प्रकार से शरीर की तृप्ति उसकी मौलिक प्रवृत्तियों के सन्तुष्ट होने पर होती है।

नीतिशास्त्र के अर्न्तगत सुखवाद Hedonism भी इसी धारणा की पुष्टि करता है कि सुख प्राप्त करना ही जीवन का उद्देश्य है तथा इसे किसी भी प्रकार से प्राप्त करना चाहिए। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि मनुष्य स्वभावतः सुख के समीप होना चाहता है तथा दुःख से दूर होना चाहता है। ऐसी स्थिति में वही कार्य करने चाहिए जिससे सुख की प्राप्ति हो तथा यही उचित है। इसके विपरीत जिस कार्य से दुःख मिलता हो वह कार्य नहीं करने चाहिए तथा अनुचित हैं। इस प्रकार उचित व अनुचित का आधार सुख और दुःख है। सुखवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह मानव स्वभाव के विश्लेषण के आधार पर मानव के लिए आदर्श का निर्धारण करता है। यह मत मनुष्य की भावना को ही प्रधान मानता है। मनुष्य स्वभाव में दो तत्व हैं- भावना और बुद्धि। इसमें से सुखवादी भावना प्रसूत क्रिया को ही मनुष्य की सबसे उत्कृष्ट क्रिया मानते हैं। बुद्धि केवल भावनाओं को तुष्ट करने का साधन है। यदि उससे हमारी भावना या इच्छा की तृप्ति होती है तो वह शुभ है अन्यथा अशुभ।

सुखवादी दार्शनिक सुख को भावनात्मक बताते हैं। उनके अनुसार अनुकूल भावना का नाम ही सुख है। अनुकूल भावना इच्छाओं की तृप्ति है अर्थात यदि हमारी इच्छाएं तृप्त होती हैं, कामनाएं शान्त होती हैं तो हमें सुख मिलता है। इस दृष्टि से सुख एक वासना या भावना है। यह वासना हमारे समस्त कर्मों के मूल में है। तात्पर्य यह है कि हम जो भी कार्य करते हैं उसके पीछे केवल सुख प्राप्ति की भावना है। अतः सुख प्राप्त करना या सुख की भावना ही मानव का सर्वोच्च लक्ष्य है।[1]

भारतीय दर्शन में भोगवादी चार्वाक का भी ये मानना है कि शरीर की तृप्ति ही सुख है इसलिए जितना हो सके पदार्थों की प्राप्ति द्वारा जीवन का सुख प्राप्त करना चाहिए। उनका कथन है-

'खाओ पिओ मौज करो'
"Eat Drink And Be Merry"
'खाद पिब च बरलोचने'

उनका प्रसिद्ध कथन है-

'यावज्जीवेत् सुखंजीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पीबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

अर्थात स्वेच्च्छाचार पूर्वक सुखमय जीवन यापन करना ही पुरूषार्थ है। कर्ज लेकर भी घी पीना चाहिए। कर्ज को लौटाने की चिन्ता व्यर्थ है क्योंकि शरीर के भस्म होने पर जीव लौट आने वाला नहीं है।'[2]

जेरेमी बेन्थम महोदय के अनुसार मानव स्वभावतः सुख चाहता है अतः सुख के लिए ही कोई कार्य करता है। जिस कार्य से सुख की उत्पत्ति होती है वही उपयोगी कार्य है। इसी प्रकार जिससे दुःख की उत्पत्ति होती है, वह अनुपयोगी हैं। परन्तु व्यक्ति के लिए उपयोगी सिद्धान्त केवल अपना सुख नहीं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अन्य व्यक्तियों को सुखी बनाकर ही उसे सच्चे सुख का अनुभव हो सकता है। परन्तु वह सबको सुखी नहीं बना सकता क्योंकि सबको सुखी बनाना मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर है। वह केवल अधिक से अधिक व्यक्तियों को अधिक से अधिक सुख दे सकता है। इस प्रकार से 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' ही मानव का सही आदर्श है।

मनुष्य जो भी कर्म करता है वह सुख-लाभ और दुःख-निवृत्ति के उद्देश्य से करता है। सुख और दुःख मनुष्य के कर्मों के औचित्य तथा अनौचित्य के निर्णायक है। इसलिए सुख-प्राप्ति ही मानव जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

मनुष्य की परार्थभावना के मूल में उसका स्वार्थ छिपा रहता है। किन्तु नितान्त स्वार्थी होने पर वह सुख से वंचित हो जाएगा। इसलिए निजी सुख प्राप्त करने के वास्ते उसे परार्थी भी होना चाहिए। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य व्यक्तिगत सुख नहीं, सामाजिक सुख होना चाहिए।

जे.एस.मिल भी बेन्थम के ही समान मानते हैं कि सुख ही मानव का एकमात्र लक्ष्य है। अर्थात कोई भी कर्म व्यक्ति के लिए तभी शुभ होगा जब उससे सुख उत्पन्न हो। यदि किसी कार्य से दुःख उत्पन्न हो तो वह अशुभ है। इतना ही नहीं मिल यह भी मानते हैं कि जिस कार्य से जिस अनुपात में सुख उत्पन्न होता है वह कार्य उसी अनुपात में शुभ है तथा जिस अनुपात में दुःख उत्पन्न होता है वह उसी अनुपात में अशुभ है।[3]

इस प्रकार से शुभ व अशुभ का मापदण्ड सुख और दुःख है। किसी वस्तु या किसी गुण का स्वयं में कोई महत्व नहीं बल्कि केवल सुख प्राप्ति की दृष्टि से ही है क्योंकि सभी सुख के साधन हैं। इस प्रकार से मिल के अनुसार मनुष्य का स्वभाव ही स्वार्थी है। अतः वह सर्वदा सुख पाने के लिए ही कोई कार्य करता है। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर मिल का कहना है कि किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करना तथा उसे सुखद पाना एक ही बात है। इसी प्रकार से वस्तु को वांछनीय समझना तथा उसे सुखद समझना दोनों एक ही बात है। अर्थात सुखद वस्तु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की इच्छा करना असम्भव है।

हरबर्ट स्पेन्सर मानते है कि मानव आचरण के मूल में सुख की भावना है अर्थात सुख प्राप्त करने के लिए ही मनुष्य कोई कार्य करता है। अतः सुख ही आचरण का मापदण्ड है। जिस कार्य या आचरण से सुख उत्पन्न हो वह शुभ है तथा जिस आचरण से दुःख उत्पन्न हो वह अशुभ। विकासवादी सुखवाद को स्वीकार करने के कारण स्पेन्सर यह मानते हैं कि विकास के नियमों से पता चलता है कि जैविक विकास के लिए जो घातक है वह दुःख है तथा जो इनमें साधक है वह सुख है।[4]

उनके अनुसार सुख जीवन का साधक है तथा दुःख जीवन का घातक है। अतः सुख उत्पन्न करने वाला कार्य ही शुभ है। तथा दुःख उत्पन्न करने वाला कार्य अशुभ। सुख-दुःख का सम्बन्ध सामाजिक परिवेश में ही है। व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता व समाज में रहकर ही अपने जीवन की रक्षा व वृद्धि करना चाहता है। समाज में व्यक्ति का आचरण ऐसा होना चाहिए कि उससे कम से कम दुःख उत्पन्न हो तथा अधिक से अधिक सुख उत्पन्न हो। परन्तु सुख तथा दुःख की परिभाषा भी स्पेन्सर नैतिक नियमों के अुनकूल ही करते हैं। उनका कहना है कि सुख से जीवन का संरक्षण होता है तथा दुःख से जीवन का विनाश । अतः सुखदायक आचरण शुभ है और दुःखदायक अशुभ। सुख ही स्वतः साध्य है। मानव कार्यों का एकमात्र लक्ष्य सुख प्राप्त करना है। उचित व्यवहार से सुख का उत्पादन होता है क्योंकि उससे जीव का वातावरण से सामंजस्य स्थापित हो जाता है। अनुचित व्यवहार से दुःख होता है क्योंकि उससे जीव का वातावरण से समायोजन नहीं होता। अधिकांश व्यवहार अंशतः उचित अंशतः अनुचित होते हैं। पूर्ण रूप से उचित व्यवहार वही है जिससे वेदना रहित सुख की उत्पत्ति हो।

वातावरण से अनुकूलता होने पर जीवन का उत्कर्ष होता है। अतः उचित व्यवहार से जीवन का उत्कर्ष होता है और अनुचित व्यवहार से उसका अपकर्ष। उचित व्यवहार से सुख की और अनुचित से दुःख की उत्पत्ति होती है। इसलिए सुख जीवन-वृद्धि का सूचक है और दुःख उसके क्षय का। जीवन-वृद्धि की प्रवृत्ति जन्मजात है। अतः पशु या मनुष्य स्वभावतः सुख-लाभ और दुःख त्याग करते हैं।

स्पेन्सर ने व्यक्ति के साथ-साथ समाज को भी महत्व प्रदान किया है और इसीलिए वह स्वार्थ और परार्थ आचरण में समन्वय प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील है। उनके अनुसार व्यक्तिगत और सामाजिक हित का संघर्ष अस्थाई और आकस्मिक है। स्वार्थ और परार्थ दोनों ही अपने-अपने स्थान के अनुरूप अमूल्य अवश्य हैं, किन्तु 'व्यक्ति के निजी हित और समाज के हित के बीच समन्वय स्थापित हो सकता है। स्वार्थ और परार्थ के अपने-अपने अधिकार हैं। स्पेन्सर कहते हैं कि 'शुद्ध स्वार्थ और शुद्ध परार्थ दोनों ही अनुचित हैं। यदि 'जीवन अपने लिए' का सूत्र असत् है तो 'जीवन अन्य के लिए' का सूत्र भी असत है। अतः दोनों के मध्य समन्वय ही एकमात्र सम्भावना है।'[5]

नितान्त स्वार्थपरता और नितान्त परार्थपरता, दोनों ही घातक हैं। यदि

व्यक्ति में अपने हितों की रक्षा की सामर्थ्य है, तो वही क्षमता परिष्कृत होकर परार्थ में बदल जाती है। यदि व्यक्ति अपने हितों के प्रति उदासीन है और वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता है, तो उससे परार्थ की आशा कैसे की जा सकती है ? यह समन्वय ही वस्तुतः मानव-जीवन का आधार है और इसके लिए व्यक्ति को सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। स्पेन्सर का विश्वास है कि व्यक्तियों के सतत् प्रयत्न से एक समय ऐसा आएगा जब यह समन्वय पूर्ण हो जाएगा, फिर व्यक्तिगत सुख और सामाजिक सुख का भेद मिट जाएगा।

स्पेन्सर के समान लेस्ली स्टीफेन भी विकासात्मक सुखवाद को स्वीकार करते हैं। स्टीफेन के अनुसार सामाजिक कल्याण की वृद्धि करने वाला कार्य ही उचित है तथा इसके विपरीत कार्य अनुचित। इसी कारण से स्टीफेन सामाजिक सुख को मापदण्ड मानते हैं। स्टीफेन के अनुसार व्यक्तिगत सुख के लिए किया गया कार्य अशुभ है तथा सामाजिक या सामूहिक सुख के लिए किया गया कार्य शुभ है। स्टीफेन स्पेन्सर के सुखवाद को भी नहीं स्वीकार करते। स्पेन्सर के अनुसार व्यक्ति को वातावरण से समायोजन में जिस कार्य से सहायता मिलती है वही शुभ है सुखद है। स्टीफेन के अनुसार सामाजिक विकास में जिस कार्य से सहायता मिलती है वह शुभ है, सुखद है।

प्रसिद्ध दार्शनिक सिजविक का कहना है कि सुख एक वांछनीय अनुभूति है। मनुष्य इसकी इच्छा करता है, इसके लिए प्रयास करता है तथा इसे पाकर प्रसन्न हो जाता है। जब तक यह प्राप्त नहीं होता तब तक मनुष्य को दुःख का अनुभव होता है। हेनरी सिजविक के अनुसार संसार में सबसे मूल्यवान वस्तु सुख है। सुख ही सभी सांसारिक वस्तुओं का साध्य है तथा सभी सांसारिक वस्तुएं इसके साधन हैं। सभी सांसारिक वस्तुओं का उपयोग केवल सुख प्राप्त करने के लिए किया जाता है। अतः सुख स्वतः साध्य है। ज्ञान, सौन्दर्य, सदगुण आदि सभी सुख के साधन मात्र हैं।[6]

सिजविक उपयोगितावाद को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख तथा कम से कम व्यक्तियों का कम से कम दुःख ही व्यक्ति का कर्तव्य है। यही मानव के लिए यथार्थ आचरण है। किसी कार्य को करने में उस कार्य से उत्पन्न सुख और दुःख की मात्रा पर ध्यान देना आवश्यक है। यदि उस कार्य से अधिक से अधिक व्यक्तियों को अधिक से अधिक सुख प्राप्त हो तथा कम से कम से व्यक्तियों को कम से कम दुःख प्राप्त हो तो वह कार्य व्यक्ति के लिए उचित है। इसके विपरीत कार्य अनुचित है। यही उपयोगितावाद का स्वरूप है। लेकिन यह मत मिल और बेन्थम के उपयोगितवाद से भिन्न है। सिजविक का कहना है कि जीवन के चरम लक्ष्य अर्थात उपयोगितावाद का ज्ञान हमें बुद्धि या अन्तःप्रज्ञा से होता है इसलिए इनके सिद्धान्त का नाम बुद्धिमूलक उपयोगितावाद या अन्तःप्रज्ञावाद है। सिजविक का मानना है कि नैतिक आदेशों का ज्ञान हमें सहज रूप में होता है। इसके लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए इसे स्वतः सिद्ध भी कहा जाता है। इससे यह

स्पष्ट है कि सिजविक के अनुसार जीवन के चरम लक्ष्य अर्थात सुख का ज्ञान मनुष्य को अनुभव से नहीं बल्कि बुद्धि से प्राप्त होता है अर्थात यह ज्ञान बौद्धिक है।

भगवद्गीता के अनुसार दुविधा वाले मन को कोई सुख नहीं मिल सकता। सुख उसी व्यक्ति को मिल सकता है जो स्थितप्रज्ञ हो।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पशहः।

निर्ममो निरहङ्क.रः स शान्तिमधिगच्छति।।[7]

उपनिषद् के अनुसार सच्चा सुख ब्रह्म से एकाकार होकर ही प्राप्त हो सकता है। भौतिक पदार्थ शाश्वत सुख प्रदान नहीं कर सकते। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि अनन्त आनन्दमयी है जबकि सान्त पदार्थों में अनन्त उपलब्ध नहीं हो सकता।[8] महान दार्शनिक राधाकृष्णन ने सुख के पांच प्रकार माने हैं- पदार्थक सुख, इन्द्रिय सुख, मानसिक सुख, बौद्धिक सुख तथा आनन्द।[9]

भारतीय दर्शन के भिन्न-भिन्न मतों ने दो प्रकार के सुखों की चर्चा की है। वैदिक चिन्तकों के अनुसार एक इस लोक अर्थात पश्थ्वी के सुख तथा दूसरे परलोक या स्वर्गलोक के सुख हैं।[10]

सिख विचारधारा में यह माना गया है कि सुख और दुःख शरीर के धर्म हैं। यह ऐसे दो परिधान हैं जो हर व्यक्ति को कभी न कभी पहनने ही पड़ते हैं क्योंकि जीवन में विजय भी होती है तथा पराजय भी।

डा. जोगिन्दर सिंघ के अनुसार- 'सुख एक मानसिक प्रवश्त्ति है। जब किसी इच्छा की पूर्ति होती है तो मन सुख अनुभव करता है। सुख मन की अनुकूल परिस्थितियों का नाम है। जब तक मन स्थिर नहीं होता, सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। साधारण परिस्थितियों में कई बार मन को सुख प्राप्त होता है पर वह सुख अस्थायी होता है'।[11] डा. रतन सिंघ जग्गी के अनुसार-'सुख परिवर्तनशील है, अस्थिर व अनित्य है। सुख दुःख का द्वन्द है। आनन्द इस द्वन्द से मुक्त है। सुख को आनन्द की अल्प मात्रा कहा जाता है। सुख का सम्बन्ध शरीर तथा इन्द्रियों से है। आनन्द का आत्मा से है। सुख लौकिक है तथा आनन्द अलौकिक है। सुख आनन्द पर निर्भर है तथा आनन्द आत्म निर्भर। सुख प्रेम की प्राप्ति है, आनन्द श्रेय की'।[12]

डा. बलजीत कौर ने लिखा है- "मनुस्मृति के कर्त्ता का मत है कि पराधीन कार्य दुःख का तथा स्वाधीन कार्य सुख का कारण होते हैं। यहां पराधीन से तात्पर्य विषय विकारों, निम्न सोच तथा माया मोह की गुलामी है तथा इनसे मुक्त होकर ही मनुष्य सुखी हो सकता है। सुख की परिभाषा यदि सामाजिक दश्ष्टि से की जाए तो जो समाज के लिए अर्थात सबके लिए अच्छा और कल्याणकारी है, वह सुख है। धार्मिक दश्ष्टि से देखा जाए तो सांसारिक माया जाल से ऊपर उठ कर मन को परमात्मा की भक्ति तथा नाम सिमरन में लीन कर देना ही वास्तविक सुख है।"[13] इस आधार पर यह स्पष्ट होता है कि मानवीय जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य सुख प्राप्त करना ही है अर्थात

यह विषय शाश्वत एवं सर्वत्र है। सुखमनी की महानता यही है कि इसमें मनुष्य के जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को विषय बनाया गया है तथा उस तक पहुंचने का मार्ग दिखाया गया है। गुरू अर्जुन देव जी ने अपनी रचना सुखमनी जो कि गउड़ी राग में है, के अन्तर्गत सुख के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है तथा उसकी प्राप्ति के साधनों की व्याख्या की है।

गुरमति में भी दो प्रकार के सुख माने गये हैं। पहला वह सुख जिसकी तृष्णा मनमुख को होती है। यह माया से उत्पन्न क्षणिक सुख है, यह तृष्णा को बढ़ाती है और दुःखों का कारण बनती है। दूसरा जो गुरमुख प्राप्त करते हैं, यह मन की सहज अवस्था का सुख है। यह सुख स्थिर है, जो मानवीय जीवन की तश्ष्णा रूपी अग्नि को बुझाकर मन को ठण्डा करता है। गुरवाणी का आशय मनुष्य को गुरमुख बनाकर सहज अवस्था का सुख प्रदान करना है।

सुखमनी में मनुष्य की अज्ञानता को ही मूल रूप से दुःखों का कारण माना गया है। सांसारिक वस्तुओं के वास्तविक स्वभाव को न जानने के कारण ही व्यक्ति विभिन्न प्रकार के दुःखों को भोगता है। वह क्षणिक, नश्वर एवं सान्त वस्तुओं को शाश्वत, स्थायी एवं अनन्त समझ लेता है तथा विभिन्न प्रकार के माया मोह के वशीभूत होकर कार्य करता है। लेकिन जब यह वस्तुएं नष्ट हो जाती हैं या उससे दूर चली जाती हैं तब वह दुःखी होता है।

भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन के चार आर्य-सत्यों के माध्यम से दुःख, दुःख के कारण, निवारण का विस्तृत वर्णन किया गया है। चार आर्य सत्य हैं-

➢ दुःख
➢ दुःख समुदाय
➢ दुःख निरोध
➢ दुःख निरोध मार्ग

बुद्ध का प्रथम आर्य सत्य है कि संसार दुःखमय है। जीवन में अनेक प्रकार के दुःख हैं। रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, असन्तोष, शोक आदि सांसारिक दुःखों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जिन अनुभूतियों को हम सुखप्रद समझते हैं, वे भी दुःखात्मक हैं। यदि किसी प्रकार की वह वस्तु जो सुख का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रतीत होती है, मिल भी जाए, तो उस वस्तु के खो जाने का भय और चिन्ता बनी रहती है।

इस प्रकार जिसे साधारणतया सुख समझा जाता है, वह भी दुःख ही है। सुख और दुःख में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। बुद्ध ने सांसारिक सुख को दुःख इसलिए भी कहा है कि वे क्षणिक और नाशवान हैं। जो वस्तु क्षणिक होती है, उसके नष्ट हो जाने के फलस्वरूप दुःख उत्पन्न होता है। क्षणिक सुख को सुख कहना मूर्खता है। जीवन के हर पहलू में दुःख की व्यापकता प्रतिबिम्बित होती हैं।

बुद्ध के प्रथम आर्य सत्य से जर्मनी के समकालीन दार्शनिक सोपनहावर भी सहमत है। उन्होंने भी जीवन को दुःखमय माना है। उनके अनुसार-

"समस्त जीवन की प्रकृति हमारे सामने इस प्रकार अभिव्यक्त होती है मानो यह जानबूझकर हमारे मन में यह विश्वास उत्पन्न करना चाहती है कि हमारे प्रयासों, प्रयत्नों और संघर्षों के अनुरूप कोई भी वस्तु नहीं है, सभी अच्छी चीजें निरर्थक हैं, संसार सभी ओर से निःसत्त्व है और जीवन एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें मूलधन की भी पूर्ति नहीं होती।"[14]

द्वितीय आर्य सत्य है- दुःख समुदाय अर्थात दुःख की उत्पत्ति। दुःख की उत्पत्ति सकारण है, अकारण नहीं। संसार में कोई भी घटना अकारण नहीं होती। प्रत्येक कार्य का कोई कारण तथा प्रत्येक कारण का कोई न कोई कार्य होता है। इसी कार्य-कारण नियम में सारा विश्व बंधा है। अतः यदि दुःख की सत्ता है तो उसका भी कारण अवश्य होना चाहिए। द्वितीय आर्य सत्य में इसी कारण पर विचार किया गया है। कारण समुदाय ही दुःख समुदाय कहलाता है। इसी समुदाय के कारण जन्म-मरण होता है। अतः इसे भवचक्र भी कहते हैं। दुःख समुदाय के बारह अंग हैं, अतः इसे द्वादश निदान भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त को प्रतीत्यसमुत्पाद (The doctrine of dependent origination) कहा जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद दो शब्दों के मेल से बना है- प्रतीत्य और समुत्पाद। प्रतीत्य का अर्थ है किसी वस्तु के उपस्थित होने पर और समुत्पाद का अर्थ है किसी अन्य की उत्पत्ति। इसलिए प्रतीत्यसमुत्पाद का शाब्दिक अर्थ होगा एक वस्तु के उपस्थित होने पर किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति। इस प्रकार से प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त कार्य कारण सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अनुसार कोई भी घटना अकारण नहीं हो सकती। दुःख एक घटना है। बौद्ध दर्शन में दुःख को 'जरा मरण' कहा गया है। जरा का अर्थ वृद्धावस्था और मरण का अर्थ मृत्यु या विनाश है। जरा मरण का कारण 'जाति' (rebirth) है। जन्म ग्रहण करना ही जाति कहा जाता हैं यदि मानव शरीर नहीं धारण करता तब उसे सांसारिक दुःखों का सामना नहीं करना पड़ता। मनुष्य का सबसे बड़ा दुःख है जन्म ग्रहण करना अर्थात शरीर धारण करना। जाति का कारण 'भव' (the tendency to be born) है। मनुष्य को इसलिए जन्म ग्रहण करना पड़ता है क्योंकि उसमें जन्म ग्रहण करने की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। जन्म ग्रहण करने की प्रवृत्ति को भव कहा गया है। भव का कारण 'उपादान' (mental clinging) है। सांसारिक वस्तुओं से आसक्त रहने की चाह को उपादान कहा जाता है। उपादान का कारण 'तृष्णा' (craving) है। शब्द, स्पर्श, रंग इत्यादि विषयों के भोग की वासना को तृष्णा कहा जाता है। इसी के कारण व्यक्ति सांसारिक विषयों के पीछे भागता है। तृष्णा का कारण 'वेदना' (sense experience) है। पूर्व इन्द्रिय अनुभूति को वेदना कहा जाता है। इन्द्रियों के द्वारा व्यक्ति को जो अनुभूति होती है वह उसकी तृष्णाओं को जीवित रखती है। वेदना का कारण 'स्पर्श' (sense contact) है। इन्द्रियों का वस्तुओं के साथ जो सम्पर्क होता है उसे स्पर्श कहा जाता है। यदि इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क न हो तब इन्द्रिय अनुभूति अर्थात वेदना उत्पन्न नहीं होगी। स्पर्श का कारण 'षडायतन' (six sense organs) है। पांच

ज्ञानेन्द्रियों और मन के संकलन को षडायतन कहा जाता है। यह छः इन्द्रियां ही विषयों के साथ सम्पर्क ग्रहण करती हैं। षडायतन का कारण 'नाम रूप' (mind body organism) है। मन तथा शरीर के समूह को नामरूप कहा जाता है। इन्द्रियों का निवास शरीर और मन में होता है। यदि नाम रूप का अस्तित्व न हो तो इन छः इन्द्रियों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। नाम रूप का कारण 'विज्ञान' (consciousness) माना जाता है। मां के गर्भ में विज्ञान के कारण ही शिशु का शरीर एवं मन विकसित होता है। विज्ञान का कारण 'संस्कार' (impression) है। संस्कार का अर्थ है व्यवस्थित करना। अतीत जीवन के कर्मों के प्रभाव के कारण ही संस्कार निर्मित होते हैं। संस्कार का कारण 'अविद्या' (ignorance) है। अविद्या का अर्थ है ज्ञान का अभाव। जो वस्तु दुःखमय है उसे सुखमय समझना, अनात्म को आत्मा समझना अविद्या का प्रतीक है। वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को न जानने के कारण अविद्या उत्पन्न होती है। इस प्रकार से अविद्या ही समस्त दुःखों का मूल कारण है।

प्रतीत्यसमुत्पाद की विशेषता यह है कि इसकी बारह कड़ियां भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों जीवन में व्याप्त हैं। अविद्या और संस्कार का सम्बन्ध अतीत जीवन से है। जरा-मरण और जाति का सम्बन्ध भविष्य जीवन से है। तथा विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान तथा भव का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है। अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों जीवन के मध्य कारण कार्य श्रंखला का प्रादुर्भाव होता है। अतीत जीवन वर्तमान जीवन का कारण है और भविष्य जीवन वर्तमान जीवन का कार्य है।

वह अवस्था जिसमें दुःखों का अन्त होता है। दुःख-निरोध कही जाती है। जब कारण का ही अभाव होगा, तब कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी ? इसलिए यदि दुःख के कारण का अन्त हो जाए तो दुःख का भी अन्त अवश्य होगा। दुःख निरोध को बुद्ध ने निर्वाण कहा है। यह तृतीय आर्य सत्य है।

प्रश्न यह है कि दुःखों का निरोध कैसे सम्भव है ? बुद्ध ने चतुर्थ आर्य सत्य में दुःख निरोध की अवस्था को अपनाने के लिए मार्ग की व्याख्या की है। इस मार्ग को दुःख निरोध मार्ग कहा जाता है। यह वह मार्ग है जिस मार्ग पर चलकर बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था। इस मार्ग को आष्टांगिक मार्ग (The eightfold noble path) कहा जाता है। यह आष्टांगिक मार्ग हैं-

सम्यक् दृष्टि अर्थात यथार्थ दृष्टि। सम्यक् संकल्प अर्थात दृढ़ निश्चय करना। सम्यक् वाक अर्थात अनुचित वचनों का त्याग करना। सम्यक् कर्मान्त अर्थात पाप कर्मों का त्याग। सम्यक् आजीव अर्थात जीविका निर्वाह के लिए उचित मार्ग का अनुसरण करना। सम्यक् व्यायाम अर्थात शुभ विचारों का ग्रहण करना। सम्यक् स्मृति अर्थात ज्ञात विषयों का यथार्थ स्मरण करना। सम्यक् समाधि अर्थात चित्त की एकाग्रता।

सांख्य दर्शन संसार को दुःखमय मानता है। जरा, मृत्यु, रोग, जन्म इत्यादि

सांसारिक दुःखों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विश्व दुःखों से परिपूर्ण है क्योंकि समस्त विश्व गुणों के अधीन है। जहां गुण हैं वहां दुःख है। संसार को दुःखात्मक मानकर सांख्य भारतीय विचारधारा की परम्परा का पालन करता है क्योंकि प्रायः सभी भारतीय दर्शन संसार की दुःखमयता पर जोर देते हैं।

सांख्य के अनुसार विश्व में तीन प्रकार के दुःख पाये जाते हैं-

➢ आध्यात्मिक दुःख- आध्यात्मिक दुःख उस दुःख को कहा जाता है जो मनुष्य के शरीर और मन से उत्पन्न होते हैं। मानसिक और शारीरिक व्याधियां ही आध्यात्मिक दुःख हैं। जैसे भूख, क्रोध, भय, द्वेष, सरदर्द इत्यादि।

➢ आधिभौतिक दुःख- आधिभौतिक दुःख वह हैं जो वाह्य पदार्थों के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं। कांटे को गड़ना, पशुओं के द्वारा फसल का ध्वंस हो जाना आदि आधिभौतिक दुःख हैं।

➢ आधिदैविक दुःख- इस प्रकार का दुःख वाह्य तथा अलौकिक कारण से उत्पन्न होता है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूत-प्रेत आदि से प्राप्त दुःख आधिदैविक दुःख कहा जाता है।

मनव स्वभावतः इन तीन प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाना चाहता है। चिकित्सा विज्ञान इन दुःखों से अस्थाई छुटकारा दिला सकता है। परन्तु मानव इन दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पाना चाहता है। वह केवल वर्तमान दुःख से ही बचना नहीं चाहता है बल्कि भविष्य में मिलने वाले दुःखों से भी छुटकारा पाना चाहता है। चिकित्सा विज्ञान उसकी इस इच्छा की तृप्ति करने में असमर्थ है। दुःखों को पूर्ण विनाश मोक्ष से ही सम्भव है। मोक्ष का अर्थ त्रिविध दुःखों का अभाव है। सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा या पुरूष सुख-दुःख से रहित है लेकिन अज्ञानवश वह अपने आपको शरीर या बुद्धि से संयुक्त समझता है इसलिए दुःख अनुभव करता है।[15]

योग दर्शन भी सांख्य के समान संसार को तीन प्रकार के दुःखों से परिपूर्ण मानता है। यह तीन प्रकार के दुःख हैं- आध्यात्मिक दुःख, आधिभौतिक दुःख, आधिदैविक दुःख। इन तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाना मोक्ष है।

वेदान्त दर्शन में यह माना गया है कि दुःख का कारण केवल मिथ्या ज्ञान की भ्रान्ति है और भ्रान्ति से मुक्ति पा जाने पर दुःख से भी मुक्ति मिल जाती है। आत्मा स्वभावतः नित्य, शुद्ध, चैतन्य, मुक्त और अविनाशी है। परन्तु अज्ञान के वशीभूत होकर वह बन्धन ग्रस्त हो जाती है। जब तक जीव में विद्या का उदय नहीं होगा तब तक वह संसार के दुःखों का सामना करता रहेगा। अविद्या का नाश होने के साथ ही साथ जीव के पूर्व संचित कर्मों का अन्त हो जाता है और इस प्रकार वह दुःखों से छुटकारा पा जाता है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुसार व्यक्ति अपने पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार शरीर ग्रहण करता है। अविद्या के कारण आत्मा अपने आपको संसार की विभिन्न वस्तुओं तथा शरीर के साथ अपनापन का सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। वह ममत्व के

द्वारा जकड़ी जाती है। इस प्रकार उसमें अहंकार की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वह दुःख, पीड़ा, शोक आदि से प्रभावित होती हैं।

न्याय दर्शन के अनुसार मिथ्या ज्ञान ही दुःखों के जन्म का कारण है।[16]

जान डीवी का कहना है कि कोई भी अपनी समस्त इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर सकता। हमारी शक्तियां इतनी सीमित हैं कि ऐसी अवस्था आ ही नहीं सकती।[17] अतः मनुष्य की ज्यादातर इच्छाएं असन्तुष्ट ही रहती हैं। इसलिए वह दुःखी रहता है क्योंकि एक सन्तुष्ट इच्छा प्रसन्नतादायक होती है जबकि एक असन्तुष्ट इच्छा दुःख देती है।[18]

सुखमनी में सुख को प्राप्त करने एवं दुःख से छुटकारा पाने के साधनों का भी वर्णन किया गया है जैसे नाम सिमरन। प्यारा सिंघ पदम के अनुसार- सुखमनी साहिब की बाणी में सुख दुःख का जिक्र कई स्थानों पर हुआ है तथा हर स्थान पर नाम को ही सुखकर्त्ता तथा नाम को ही दुःखहर्ता कहा गया है। इस बाणी की रहाउ की पंक्ति भी यह है- सुखमनी सुख अंम्रितु प्रभु नामु। यह स्पष्ट उल्लेख करती है कि सुख या मानसिक शान्ति केवल अमश्त नाम में है। इसलिए बाणी का आरम्भ ही इससे होता है कि आओ, उस परमात्मा को याद करें, उस के सिमरन से ही सुख मिलता है तथा दुःख क्लेश का नाश होता है।[19]

यह सत्य है कि इस संसार में रह कर इन्द्रियों पर नियन्त्रण करना कठिन कार्य है। मनुष्य कई बार इस बात को समझ भी लेता है कि यह विषय-वासना, भोग-विलास अन्त में दुःख देने वाले हैं परन्तु फिर भी वह इसके जाल से नहीं निकल पाता। इसका समाधान यह बताया गया है कि ईश्वर का सिमरन करना, स्वयं को उनके प्रति समर्पित करना ही एकमात्र उपाय है जिससे तन तथा मन के दुःख मिटते हैं और परम सुख की प्राप्ति होती है-

जनम मरन ता का दूखु निवारै।
दुलभ देह ततकाल उधारै।।[20]

सुखमनी में इस बात का भी उल्लेख है कि स्वयं अकेले ही प्रभु नाम का सिमरन करने की अपेक्षा सम्पूर्ण मानव जाति को इस की प्रेरणा दो जिससे सर्वत्र सुख तथा शान्ति का साम्राज्य हो-

साजन सन्त करहु इहु कामु।
आन तिआगि जपहु हरि नामु।।
सिमरि सिमरि सिमरि सुख पावहु।
आपि जपहु अवरह नामु जपावहु।।[21]

वास्तव में भक्ति मार्ग को अपनाने से व्यक्ति का अहंकार समाप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जीवन में सुख और दुःख तो आते ही रहते हैं। आदर्श मनुष्य वही है जो इन परिस्थितियों में भी अपना सन्तुलन नहीं खोता बल्कि समभाव का आचरण करता है। क्योंकि दुःख भी सुख के समान जीवन का अनिवार्य अंग है।

सुखमनी में उल्लेख है कि जीव अज्ञानी है। वह इस दृष्टिमान संसार को स्थिर समझता है तथा विभिन्न वस्तुओं से माया मोह के वशीभूत होकर कार्य करता है। लेकिन जब उसके देखते-देखते इन वस्तुओं का नाश हो जाता है और सम्बन्धी काल के गर्त में चले जाते हैं, तब व्यक्ति दुःखी होता है। सुखमनी में ऐसे जीवों की मानसिक अवस्था का वर्णन इस प्रकार से किया गया है-

अनिक भाति माया के हेत।
सरपर होवत जानु अनेत।।
बिरख की छाइआ सिउ रंगु लावै।
ओह बिनसै उहु मनि पछतावै।।
जो दीसै सो चालनहार।
लपटि रहिओ तह अंध अंधारू।।
बटाऊ सिउ जो लावै नेह।
ता कउ हाथि न आवै केह।।[22]

माया में उलझे जीव को समझाते हुए सुखमनी में उल्लेख है कि सांसारिक वस्तुएं मिथ्या हैं। मिथ्या से तात्पर्य अस्थिरता से है, परिवर्तन से है-

मिथिआ तनु धनु कुटंबु सबाइआ।
मिथिआ हउमै ममता माइआ।।
मिथिआ राज जोबन धन माल।
मिथिआ काम क्रोध बिकराल।।[23]

मूर्खतावश मनुष्य माया में लीन रहता है। भ्रम में पड़ा हुआ दसों दिशाओं में भागता फिरता है तथा पल में मन चारों कोनों में भागदौड़ कर वापस आ जाता है-

अनजानत बिखिआ महि रचै।
जे जानत आपन आप बचै।।[24]

जो मनुष्य धन दौलत का अभिमान करता है वह मूर्ख व अज्ञानी है। क्योंकि यह सभी वस्तुएं क्षणभंगुर हैं और जब यह नष्ट हो जाती हैं अथवा उस से दूर चली जाती हैं तो मनुष्य दुःखी होता है-

धन भूमि का जो करै गुमानु।
सो मूरखु अंधा अगिआनु।।[25]

सुखमनी में बार-बार इस बात का उल्लेख कर के मनुष्य को सचेत किया गया है कि जीवन को क्षणिक तथा नश्वर वस्तुओं को एकत्रित करने में व्यर्थ न जाने दे क्योंकि जिस धन से वह लगाव करता है वह उसके पास सदा नहीं रहने वाला। परिवार, मित्र, स्त्री, पुत्र, माया के विभिन्न साधन इत्यादि कुछ भी सदा उसके साथ रहने वाला नहीं है-

संगि न चालसि तेरै धना।
तूं किआ लपटावहि मूरख मना।।

सुत मीत कुटंब अरू बनिता।
इन ते कहहु तुम कवन सनाथा।।
राज रंग माइआ बिसथार।
इन ते कहहु कवन छुटकार।।
असु हसती रथ असवारी।
झूठा डंफु झूठु पासारी।।[26]

सांसारिक वस्तुओं के यथार्थ स्वभाव को न समझने के कारण ही व्यक्ति कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता। लाखों रूपये इकट्ठा करता है, माया के द्वारा कई सुख भोगता है, परन्तु फिर भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता। यदि मन में सन्तोष न हो तो उसके सभी कार्य तथा इच्छाएं व्यर्थ हैं-

सहस खटे लख कउ उठि धावै।
त्रिपति न आवै माइआ पाछै पावै।।
अनिक भोग बिखिआ के करै।
नह त्रिपतावै खपि खपि मरै।।[27]

मनुष्य के समस्त दुःखों की जड़ अज्ञानता, अहंकार व असीमित इच्छाएं ही हैं तथा केवल प्रभु भक्ति या नाम सिमरन ही उसके अन्दर सोई हुयी सुन्दरता, प्रेम व सच को जगा सकता है। इच्छाओं को दबाया नहीं जा सकता बल्कि इच्छाओं पर नियन्त्रण तो केवल संयम तथा सन्तोष के द्वारा ही पाया जा सकता है-

बिना संतोख नही कोऊ राजै।
सुपन मनोरथ ब्रिथे सभ काजै।।[28]

आत्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए सुखमनी में दो साधनों को सहायक माना गया है- पहला भाणा या आज्ञा पालन तथा दूसरा समदृष्टि। इन दोनों गुणों पर सुखमनी में बार-बार बल दिया गया है। जब व्यक्ति आज्ञा पालन का गुण आत्मसात कर लेता है तब उसके लिए कोई घटना दुःखदायी प्रतीत नहीं होती। वह प्रत्येक बात को प्रभु की इच्छा समझ कर मान लेता है-

जो होआ होवत सो जानै।
प्रभ अपने का हुकमु पछानै।।[29]

जब जो उसे प्राप्त होता है उसे प्रसन्नता से स्वीकार करता है तथा आवश्यकता पड़ने पर बिना किसी मोह के त्याग भी देता है-

जिस की बसतु तिसु आगै राखै।
प्रभ की आगिआ मानै माथै।।[30]

आज्ञा में चलने वाला सदा खुश रहता है तथा उसकी खुशियों का कोई पारावार नहीं रहता-

प्रभ का कीआ जन मीठ लगाना।
जैसा सा तैसा द्रिसटाना।।[31]

समदृष्टि का अर्थ है- सुख तथा दुःख में समान आचरण करना। यह लक्षण ब्रह्मज्ञानी का बताया गया है। साधारण बातों से मनुष्य सुखी तथा दुःखी हो जाते हैं। लेकिन आध्यात्मिक श्रेष्ठता प्राप्त करने वाले व्यक्ति इस प्रकार नहीं करते बल्कि सुख तथा दुःख में समभाव का आचरण करते है।-

ब्रहम गिआनी सदा समदरसी।।[32]

जब तक मनुष्य किसी को दुश्मन तथा किसी को मित्र समझता है, तब तक उसका मन स्थिर नहीं हो सकता-

जब धारै कोऊ बैरी मीतु।
तब लगु निहचलु नाही चीतु।।[33]

अतः सदैव सुख की अवस्था कायम रखने के लिए प्रभु के समक्ष समर्पण करके भाणे या आज्ञा में जीवन बिताना ही सही मार्ग है-

जो कछु करे सोई सुखु मानु।।[34]

स्वाभाविक रूप से जो कुछ होता है उसे प्रभु की इच्छा तथा आज्ञा मानकर चलना सुखमनी में उत्तम मार्ग माना गया है-

सहज सुभाइ होवै सो होइ।
करणैहारू पछाणै सोइ।।[35]

यह अवस्था केवल प्रभु के नाम सिमरन द्वारा ही सम्भव है। इसलिए सुखमनी में नाम सिमरन को ही बार-बार सुख का साधन कहा गया है-

जे को अपना दूखु मिटावै।
हरि हरि नामु रिदै सद गावै।।[36]

इसके अलावा भले व्यक्तियों या सन्त की संगति से भी सुख की प्राप्ति को सुखमनी में स्वीकार किया गया है

जिसु सुख कउ नित बाछहि मीत।
सो सुखु साधू संगि परीति।।[37]

विनम्रता को भी सुखी जीवन का एक प्रमुख साधन माना गया है। अहंकारी मनुष्य कभी भी शान्त एवं सुखी जीवन नहीं जी सकता। उसका अहंकार उसे रसातल में ले जाता है-

सुखी बसै मसकीनीआ आपु निवारि तले।
बडे बडे अहंकारीआ नानक गरबि गले।।[38]

वास्तव में सुख तथा दुःख दोनों जीवन के अनिवार्य अंग है। जिस प्रकार से ऋतुएं बदलतीं है कभी गर्मी, कभी सर्दी, कभी बरसात, कभी पतझड़, उसी प्रकार से जीवन में सुख तथा दुःख भी अपने रंग बदलते रहते हैं। कभी सुख का पलड़ा भारी होता है तो कभी दुःख का। मौसम के परिवर्तन के साथ धूप कभी सुख प्रदान करती है तो कभी दुःख। वह वस्तु जो आज दुःखदायी है वही कल सुखदायी हो जाती है। अतः सुख-दुःख जीवन के अनिवार्य अंग है लेकिन ब्रह्मज्ञानी, साध या जीवनमुक्त वाली

दृष्टि विकसित हो जाने पर सुख तथा दुःख का अन्तर नहीं रह जाता-

सूख दूख जन सम द्रिसटेता।।[39]

इस प्रकार से सामान्य रूप से सुखमनी एवं दार्शनिक विश्लेषण से यही स्पष्ट होता है कि सुख की प्राप्ति तथा दुःख परिहार संयमित एवं सन्तुलित जीवन शैली को अपनाने में ही सम्भव हो सकता है। न तो केवल इच्छाओं के वशीभूत होकर जीवन यापन करना उचित है क्योंकि ऐसा जीवन पशु के समान होगा तथा न ही पूर्ण रूप से इच्छाओं का दमन करना उचित है क्योंकि ऐसा जीवन सन्यास को बढ़ावा देता है। बल्कि उचित व वास्तविक जीवन है- इच्छाओं का बुद्धि द्वारा नियन्त्रण। मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है अतः उसे अपने विवेक का प्रयोग करते हुए ही किसी भी कार्य का चुनाव करना चाहिए। उसके जीवन में भावना तथा बुद्धि, जो कि मानव स्वभाव के आवश्यक तत्व हैं, दोनों का ही समान महत्व है। किसी एक तत्व का त्याग उसके व्यक्तित्व को सम्पूर्णता प्रदान नहीं कर सकता। इसी कारण से मनुष्य को विवेकशील पशु कहा जाता है। व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सर्वांगीण विकास है जिसमें भावना तथा बुद्धि दोनों का समुचित विकास है।

सन्दर्भ

1. "Hedonism is the general term for those theories that regards pleasure or happiness as the supreme end of life."Mackenzie J. S. , A Manual of Ethics, p. 167
2. बार्हस्पत्य सूत्र 5
3. "----actions are right in proportion as they tend to promte happiness, wrong as they tend to produce the reverse of happiness. By happiness is intended pleasure and the absence of pain; by unahappiness, pain and the privation of pleasure."J.S. Mill,Utilitarianism, p,13
4. "It is an enevitable deduction from the hypothesis of evolution that pains are correlatives of actions injurious to the organism, while pleasures are the correlatives of actions conducive to its welfare."Herbert Spencer, The Data of Ethics, p. 19
5. "Pure egoims and pure alturism are both illegitimate. If the maxim-"live for self" is wrong, so also the maxim-"live for others." Hence a compromise is the possibility." Ibid, p. 189
6. "Pleasure or happiness is the ultimate good. Knowledge, beauty and other objects which are considered by some to have intrinsic value are only means to happiness." Henry Sidgwick: Methods of Ethics, p
7. भगवद्गीता, अध्याय 2, श्लोक 71
8. राधाकश्ष्णन , भारतीय दर्शन, पृष्ठ 47
9. वही, पश्ष्ठ 191
10. Encyclopeadia of Religion and Ethics, vol. 6 p. 511
11. जोगिन्दर सिंघ, सुखमनी साहिब दा दार्शनिक आधार , पृष्ठ 50
12. रतन सिंघ जग्गी, गुरू नानक की विचारधारा, पृष्ठ 279
13. गुरबाणी: धर्म अते साहित्य, पृष्ठ 103
14. "The nature of life throughout presents itself to us as intended and calculated to awaken the conviction that nothing at all is worth our striving, our efforts and struggles, that all good things are vanity, the world in all its ends bankrupt, and life, business which does not cover expences" Schppenhaur: The World As Will & Idea, Vol. 3, p. 383
15. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 279
16. वही, पृष्ठ 217
17. जान डीवी, सदाचारी जीवन का सिद्धान्त(अनुवाद), पश्ष्ठ 47

18. Mackenzie J. S., A Manual of Ethics , 1961, p. 63
19. प्यारा सिंघ पदम, सुखमनी दर्शन, पृष्ठ 59-60
20. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 296
21. वही, पृष्ठ 290
22. वही, पृष्ठ 268
23. वही, पृष्ठ 268
24. वही, पृष्ठ 277
25. वही, पृष्ठ 278
26. वही, पृष्ठ 288
27. वही, पृष्ठ 279
28. वही, पृष्ठ 279
29. वही, पृष्ठ 286
30. वही, पृष्ठ 268
31. वही, पृष्ठ 282
32. वही, पृष्ठ 272
33. वही, पृष्ठ 278
34. वही, पृष्ठ 283
35. वही, पृष्ठ 282
36. वही, पृष्ठ 266
37. वही, पृष्ठ 288
38. वही, पृष्ठ 278
39. वही, पृष्ठ 266

सर्वोत्तम मानव

संसार के लगभग सभी धर्मों का केन्द्रीय बिन्दु मनुष्य ही है। लगभग सभी धर्मों मे यह स्वीकार किया गया है कि ईश्वर ने यह संसार मनुष्य के लिए निर्मित किया है जिससे कि वह इस संसार में क्रियात्मक कर्मों द्वारा एक उत्तम मनुष्य बन सके। यदि मनुष्य यह जन्म संसार के निरर्थक कार्यों में गंवा देता है तो उसे पुनः आवागमन के चक्करों में भटकना पड़ेगा- ऐसे प्रेरणामयी संकेतों द्वारा मनुष्य को सचेत किया गया है कि मनुष्य के जीवन का यह उत्तम व श्रेष्ठ समय है कि वह अपना जीवन आदर्श प्राप्त करे। जीवन आदर्श की प्राप्ति कोई ऐसी वस्तु नही है जो बाहर से प्राप्त होती है। यह एक मानसिक विकास है। मनुष्य का शरीर आत्मा, प्रकृति तथा मन का मिश्रित रूप है। मन जीवात्मा तथा शरीर के मध्य एक संकल्पों- विकल्पों का समूह है। इस मन की प्रकृति चंचल है। मनुष्य संसार के समस्त जीवों से अधिक चेतना का स्वामी है। बौद्धिक तथा विवेकशील प्राणी होने के कारण वह समस्त जीवों से श्रेष्ठ माना जाता है। जीवन का मूल क्या है ? अन्त क्या है ? मन्तव्य क्या है ? इसकी पूर्ति किस प्रकार से संभव है ? यह सभी बुनियादी प्रश्न चेतन मन में उठते रहते हैं। सृष्टि से उसका क्या संबध है ? आदि विचारों ने मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रेरित किया।

भारतीय धार्मिक परम्परा का आरम्भ हम सिन्धु घाटी की सभ्यता से कर सकते हैं। सिन्धु घाटी के इतिहास से हमें मनुष्य के जीवन आदर्श के सम्बन्ध में कुछ तत्व मिलते हैं। डा. आर. के. मुखर्जी के अनुसार सिन्धु घाटी की सभ्यता से उपलब्ध मूर्तियों में एक ध्यानमग्न योगी की मूर्ति से यह संकेत मिलता है कि यह योगी उस समय की सभ्यता का आदर्श मनुष्य माना जाता था। इस योगी की मूर्ति से पता चलता है कि उस समय धार्मिक व्यक्ति समाधि स्थित होकर जीवन के रहस्य को ढूंढने के लिए प्रयत्नशील थे।[1] इन आध्यात्मिक क्रियाओं का परिणाम क्या निकला ?योगी जीवन का अन्तिम लक्ष्य ढूंढ सके या नहीं ? यदि ढूंढ सके तो किसी अन्य व्यक्ति से उस अनुभव को बांट सके या नहीं आदि प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं।

वैदिक काल में ऋषि, मुनियों ने आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयास आरम्भ किया। धार्मिक क्षेत्र में भक्ति के प्रकार, प्रार्थनाएं,यज्ञ तथा कुर्बानियों के कार्य विकसित हुए। इस प्रकार भक्ति व कर्म के संयोग से मनुष्य को जीवन के महत्व का अनुभव हुआ। मनुष्य को प्रकृति ने उत्तम गुणों से भरपूर किया है जिससे वह अपना आध्यात्मिक विकास कर सके।[2]

संसार में मुक्त कौन है ? कर्म करता हुआ भी निष्काम कर्मी कौन है ? दु:ख-सुख, प्रशंसा-निन्दा को एक समान देखने वाला कौन है ? संसार रूपी समुद्र में कमल के फूल के समान कौन निर्लिप्त रहता है ? यह समस्त प्रश्न एक आदर्श मनुष्य के जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण करते हैं। समस्त संसार सत्व,रज व तम तीन

गुणों में ही उलझा हुआ है। आदर्श मनुष्य इन तीनों गुणों से ऊपर तुरीयावस्था में विचरण करता है। वह द्वैत भाव से मुक्त होता है। उसके मन,वचन व कर्म में एकरूपता आ जाती है।

इस प्रकार से सर्वोत्तम मनुष्य का सृजन करना प्रत्येक धर्म का उद्देश्य रहा है। वैदिक साहित्य इसे 'ऋषि', 'मुनि' कहता है । बौद्ध 'बोधिसत्व' या 'अर्हत' तथा गीता 'स्थितप्रज्ञ'। सिक्ख धर्म में आदर्श प्राप्ति के लिए घर को छोड़कर जंगल में निवास करने, तीर्थों पर जाने, नग्न रहने या सन्यास धारण करने की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया गया बल्कि समस्त सांसारिक क्रियाओं को करते हुए आन्तरिक रूप से व्यक्ति अपना जीवन परमात्मा के साथ जोड़ सकता है तथा परम पद की प्राप्ति कर सकता है, इस बात की मान्यता है। सुखमनी में इस आदर्श मनुष्य को ब्रह्मज्ञानी, साध, सन्त, सेवक, जीवनमुक्त, भक्त आदि संकेतों से वर्णित किया गया है।

सुखमनी का पवित्र मन्तव्य ऐसे सर्वोत्तम आचरण वाले व्यक्ति का सृजन करना है जो स्वयं शान्त, सन्तुलित हो तथा आस-पास ऐसा शान्त व सन्तुलित वातावरण उत्पन्न करे जिससे आदर्श समाज की स्थापना हो सके। सुखमनी के आदर्श मानव में गीता के स्थितप्रज्ञ के समान कर्म, ज्ञान व भक्ति का संयोग है।

ब्रह्मज्ञानी नाम से ही प्रतीत होता है कि ज्ञान उसका विशेष लक्षण है। आठवीं अष्टपदी के श्लोक में भी इस लक्षण की व्याख्या की गयी है कि जिस व्यक्ति के मन मुख में सदा सत्य निवास करता है तथा सम्पूर्ण विश्व में जिसे परमात्मा का ही प्रकाश दिखाता है वही ब्रह्मज्ञानी है। सुखमनी में ब्रह्मज्ञानी के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं-

मनि साचा मुखि साचा सोइ।।
अवरू न पेखै एकसु बिनु कोइ।।
नानक इह लछण।
ब्रहम गिआनी होइ।।[3]

ब्रह्मज्ञानी का शाब्दिक अर्थ है- वह महान पुरूष जिसने ब्रह्म या परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लिया हो। ब्रह्मज्ञानी की विशेषता यह बतायी गयी है कि वह सदैव निर्लिप्त, निर्दोष, समदृष्टा व अत्यन्त धैर्यवान होता है। उसके लिए सभी एक समान हैं। उसमें अभिमान नाम मात्र भी नहीं होता बल्कि विनम्रता उसका आभूषण होता है। ऐसे व्यक्ति का आत्मिक भोजन ब्रह्मज्ञान है। वह अपने मन को वश में रखता है। सभी का भला व सभी का उद्धार उसका प्रयोजन है तथा इसके लिए वह सदैव तत्पर रहता है। जगत में निर्लिप्त रहता है जैसे कमल जल में निर्लिप्त रहता है। जैसे हवा सभी के लिए एक समान है सूर्य सभी को एक समान सुख देता है वैसे ही ब्रह्मज्ञानी समान दृष्टि वाला है-

ब्रहम गिआनी सदा निरलेप।
जैसे जल महि कमल अलेप।।
ब्रहम गिआनी सदा निरदोख।

जैसे सूरू सरब कउ सोख।।
ब्रहम गिआनी कै द्रिसटि समानि।।[4]

ब्रह्मज्ञानी हमेशा सबको एक ही नजर से देखता है-

ब्रहम गिआनी सदा समदरसी।।[5]

ऐसे ब्रह्मज्ञानी की खोज देवता भी करते हैं-

ब्रहम गिआनी कऊ खोजहि महेसुर।।[6]

ब्रह्मज्ञानी की स्थिति तक किस प्रकार पहुंचा जाए इसके लिए सुखमनी में उल्लेख है कि यह ज्ञान गुरू से प्राप्त हो सकता है-

गिआन अन्जनु गुरि दीआ।
अगिआन अन्धेर बिनासु।।
हरि किरपा ते सन्त भेटिआ।
नानक मनि परगासु।।[7]

ऐसे गुरू की क्या पहचान है ? इसका उत्तर भी दिया गया है कि वह ही सत्य का मार्ग दिखा सकता है जिसने स्वयं सत्य को जान लिया हो-

सति पुरखु जिन जानिआ।
सतिगुरू तिस का नाउ।।
तिस कै संगि सिखु उधरै।
नानक हरि गुन गाउ।।[8]

गुरू के उपदेश से व्यक्ति का संदेह दूर होता है। उसके आध्यात्मिक नेत्र खुल जाते हैं जिससे हर स्थान पर परमात्मा दिखाई देता है-

करण कारण प्रभु एकु है।
दूसर नाही कोइ।।
नानक तिसु बलिहारणैं।
जलि थलि महीअलि सोइ।।[9]

ब्रह्मज्ञान उसी को प्राप्त हो सकता है जिसने अपने मन से तर्क को निकाल कर विश्वास कायम कर लिया हो-

जा कै रिदै बिस्वासु प्रभ आइआ।
ततु गिआन तिसु मनि प्रगटाइआ।।[10]

यह विश्वास उसी के मन में हो सकता है जिसे गुरू पर पूर्ण श्रद्धा हो। गुरू की शरण में आकर ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य के पांच महान रोग काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार दूर हो जाते हैं-

काम क्रोध अरू लोभ मोह।
बिनसि जाइ अहंमेव।।
नानक प्रभ सरणागति।
करि प्रसादु गुरदेव।।[11]

अहंकार को गुरवाणी में महारोग कहा गया है जो मनुष्य के दुःखों की जड़ है-

सुखी बसै मसकीनीआ। आप निवारि तले।।
बडे बडे अहंकारीआ। नानक गरबि गले।।[12]

अहंकार को दूर करने का साधन उस परमात्मा का स्मरण करना है-

सरब रोग का अउखदु नामु।
कलिआण रूप मंगल गुण गाम।।[13]

ब्रह्मज्ञानी के अतिरिक्त आदर्श मनुष्य को सुखमनी में 'साध' भी कहा गया है। साध निर्मल कर्मों वाले आचरण करने वाले मनुष्य का नाम है। साध के कोशगत अर्थ हैं- साधु, महात्मा, ईश्वर, भक्त, भले लोग, नेक, धर्मी आदि।[14] जिस व्यक्ति ने अपने मन को पशु वृत्ति से साध लिया है। जो पूर्ण पद को प्राप्त है जिस का रास्ता सीधा व साफ है। साध वह है जो अपना एक भी श्वास व्यर्थ नहीं जाने देता। हर श्वास परम पिता परमात्मा की याद में बिताता है। परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार-

'सन्त' शब्द का प्रयोग आमतौर पर बुद्धिमान, पवित्र आत्मा, सज्जन, परोपकारी या सदाचारी व्यक्ति के लिए किया जाता हैं। कभी साधारण बोलचाल में इसे भक्त, साधु या महात्मा जैसे शब्दों का पर्याय समझ लिया जाता है।'[15]

वैदिक काल में उत्तम गुणों वाले, वासना रहित प्रभु का साक्षात करने वाले को साध कहा जाता था। यह व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में इन्द्रियों को वश में कर लेते थे तथा बाद में सन्यास धारण करके अपना जीवन व्यतीत करते थे। सुखमनी में साध की महिमा इस प्रकार से व्यक्त की गयी है कि वेद तो तीन गुणों तक ही सीमित है लेकिन साध की महिमा तीनों गुणों से ऊपर है-

साध की उपमा तिहु गुण ते दूरि।
साध की उपमा रही भरपूरि।।[16]

साध की संगति व्यक्ति को अच्छे भाग्य से ही प्राप्त होती है। इस तरह के निर्मल व सदगुणी आदर्श मनुष्य की संगति करने से परम पद की प्राप्ति होती है-

साध कै संगि सभ कुल उधारै।
साध संगि साजन मीत कुटंब निसतारै।।[17]

साध वह परम पुरूष है जो अपने आप को परम सत्य के साथ अभेद करके सारा जीवन लोक सेवा में लगाता है। वह इतना शिष्ट व श्रेष्ठाचारी होता है कि किसी का दिल नहीं दुखाता बल्कि समस्त का भला मांगता है।

साध के साथ कहीं-कहीं सुखमनी में 'सन्त' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। ज्ञान शब्दकोश के अनुसार- 'सन्त अर्थात सत् का प्रथमा बहुवचनान्तरूप या साधु, धर्मात्मा, विरक्त।'[18]

कई विद्वानों का विचार है कि सन्त पद शान्त से निकला है अर्थात शान्त स्वभाव वाला। जिस मनुष्य ने मन तथा इन्द्रियों को वश में कर लिया है वह सन्त है-

जिस कउ हरि प्रभु मन चिति आवै।

सो सन्तु सुहेला नही डुलावै।।[19]

सन्त के अर्थ विद्वान या पण्डित भी हैं। इसकी व्युत्पत्ति 'सत्य' से भी मानी जाती है। जो सत्य का उपासक है वह सन्त है।[20] ईश्वरीय आदेश में जीवन बिताना उसका स्वभाव होता है तथा वह उस परम सत्ता के बिना कुछ और नहीं देखता-

हरि जसु करत सन्त दिनु राति।
हरि हरि अउखधु साध कमाति।।[21]

गुरू अर्जुन देव ने सन्त के विषय में सुखमनी में एक पूरी अष्टपदी लिखी है। इसके अलावा कई और स्थानों पर सन्त का जिक्र आया है-

अगम अगाधि पारब्रहमु सोइ।
जो जो कहै सु मुकता होइ।।
सुनि मीता नानकु बिनवन्ता।
साध जना की अचरज कथा।।[22]

ऐसे महान पुरूष सन्त की संगति करने से साधारण जीवों को वह कुछ प्राप्त हो जाता है जिस की कामना, इच्छा अनादि काल से व्यक्ति कर रहे हैं। सन्त की संगति से मन से पापों की मैल दूर हो जाती है। पांच विकार वश में आ जाते हैं, अहंकार का नाश हो जाता है, शाश्वत सुख की प्राप्ति हो जाती है, मनोकामनाएं पूर्ण हो जाती हैं, परमात्मा हृदय में निवास करता है तथा प्राणि परम पद को प्राप्त कर लेता है। वास्तव में साध व परमात्मा एक रूप हो जाते हैं।

'भक्त' शब्द का प्रयोग भी सुखमनी में आदर्श मनुष्य के लिए किया गया है। हिन्दू धर्म कोश के अनुसार-'भक्ति मार्ग के सिद्धान्त के अनुसार भक्त उसे कहते हैं जिसने ईश्वर के भजन में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया हो। साधारण आत्माओं को चार भागों में विभक्त किया गया है- 1. बद्ध, जो इस जीवन की समस्याओं से बंधा है। 2. मुमुक्षु जिसमें मुक्ति की चेतना जाग्रत हो, किन्तु उसके योग्य अभी नहीं हैं। 3. भक्त या केवली, जो मात्र ईश्वर की ही उपासना में लीन हो, पवित्र हृदय का हो तथा जो भक्ति गुण के कारण मुक्ति के मार्ग पर चल रहा हो। 4. मुक्त जो भगवद पद को प्राप्त कर चुका हो।'[23] उसका जीवन सच्चा होता है। वह आडम्बर नहीं करता बल्कि उसका वाह्य तथा आन्तरिक व्यवहार सत्यपरायण होता है तथा यह अवस्था तब बनती है जब वह गुरू पर पूर्ण विश्वास करता है-

जा कै मनि गुर की परतीति।
तिसु जन आवै हरि प्रभु चीति।।[24]

ऐसे परम मनुष्य के लिए सुखमनी में कहीं-कहीं 'सेवक' शब्द का भी प्रयोग हुआ है लेकिन यह सेवक किसी व्यक्ति विशेष का मोहताज न होकर केवल संसार के स्वामी का आज्ञाकारी होता है। निष्काम भक्ति उसका पहला कर्तव्य होता है। यही निष्कामता व निश्चय है जो उसकी पवित्र आत्मा को परमात्मा के निकट ले जाता है-

ठाकुर का सेवक आगिआकारी।

ठाकुर का सेवक सदा पुजारी।।
ठाकुर के सेवक कै मन परतीति।
ठाकुर के सेवक की निरमल रीति।।[25]

ऐसी सेवा तथा भक्ति का अन्तिम फल यह है कि वह परम पद पर पहुंच जाता है-

सेवक कउ सेवा बन आई।
हुक्म बूझि परम पदु पाई।।[26]

वह ईश्वरीय आदेश की शक्ति को समझता हुआ उसके अनुसार चलने का आदर्श बनाकर अपने आप को समर्पित कर देता है। यही सेवक होने का लक्षण है कि वह स्वामी की आज्ञा का खुशी-खुशी पालन करे। अर्थात ईश्वरीय आदेश को मन को अच्छा लगने वाला या आज्ञा मान ले। ज्ञान शब्दकोश के अनुसार-'सेवक का अर्थ है सेवा, पूजा, सम्मान करने वाला, अभ्यास करने वाला, प्रयोग में लाने वाला भक्त, आराधक, आश्रित, परिचारक।'[27]

भारतीय धर्मों में ऐसे उच्च आचरण वाले व्यक्ति के लिए कई और संकेतों का प्रयोग किया जाता रहा है। सुखमनी की नौवीं अष्टपदी में इन पुरातन संकेतों की भी व्याख्या की गयी है। यह संकेत हैं- अपरस, बैसनो, पण्डित, भगौती, रामदास, जीवनमुक्त आदि। परम पवित्र शुद्ध व्यक्ति के लिए 'अपरस' शब्द का प्रयोग होता है। सच्चा अपरस वह है जिसमें नाम मांत्र की भी बुराई न हो तथा जिसके हृदय में परमात्मा का नाम निवास करता है। उसका मन व इन्द्रियां पवित्र होती हैं। जो हर प्रकार के विकार से बच के रहता है। जिसके कान निन्दा नहीं सुनते, नेत्र पररूप नहीं देखते, मन वासना की ओर नहीं जाता, जो इन्द्रियाजीत बन जाता है वह अपरस है अर्थात अपरस ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को संयम में रखता है-

मिथिआ नाही रसना परस।
मन महि प्रीति निरंजन दरस।।
पर त्रिअ रूपु न पेखै नेत्र।
साध की टहल संतसंगि हेत।।
करन न सुनै काहू की निंदा।
सभ ते जानै आपस कउ मंदा।।
गुरप्रसादि बिखिआ परहरै।
मन की बासना मन ते टरै।।
इंद्री जित पंच दोख ते रहत।
नानक कोटि मधे को ऐसा अपरस।।[28]

वैष्णव मत के अनुसार सच्चा धर्मी वह है जो अहिंसावादी है। जो किसी को भी किसी प्रकार की हानि नही पहुंचाता। ऐसा व्यक्ति ही प्रभु की प्रसन्नता का पात्र बनता है तथा माया से बिल्कुल निर्लिप्त रहता है। वह कर्म करते हुए भी निष्काम रहता है। वह अपने मन में प्रभु नाम को दृढ़ करता रहता है तथा सभी को इसकी प्रेरणा देता

है। ऐसा व्यक्ति ही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है-

बैसनो सो जिसु ऊपरि सुप्रसंन।
बिसन की माइआ ते होइ भिंन।।
करम करत होवै निहकरम।
तिसु बैसनो का निरमल धरम।।
काहू फल की इच्छा नही बाछै।
केवल भगति कीरतन संगि राचै।।
मन तन अंतरि सिमरन गोपाल।
सभ ऊपरि होवत किरपाल।।
आपि द्रिड़ै अवरह नामु जपावै।
नानक ओहु बैसनो परमगति पावै।।[29]

गुरमत के अनुसार वैष्णव का स्वरूप एक आदर्श मनुष्य के रूप में चित्रित किया गया है। जिसने सारे विकार त्याग दिए हैं। गुरू अर्जुन देव जी फरमाते हैं-

सो बैसनो है अपर अपार।
कहु नानक जिन तजे विकार।।[30]

जब तक हृदय में अहंकार की मैल है, बाहर माया के पदार्थों का मोह है, मुख से दिखावे के लिए हरि-हरि कर रहा है, अन्दर काम वासना से ग्रस्त है। इस प्रकार की जिन्दगी जीने से व्यर्थ नष्ट हो जाती है जिसमें वास्तविकता नही होती।

ब्राह्मण धर्म में शास्त्रीय विद्वता का बहुत आदर है तथा इसे धर्म का मुख्य गुण माना गया है। सुखमनी के अनुसार 'पण्डित' वह है जिसके समस्त कर्म कामना रहित हैं। जो ज्ञान रूपी अग्नि के द्वारा लालसा को भस्म कर देता है। वह केवल किताबी ज्ञान का ही पण्डित नहीं होता बल्कि सूक्ष्म में स्थूल की व्यापकता को समझता है या दूसरे शब्दों में सृष्टि के सृजनहार तथा सृष्टि को एक करके जानता है। वह द्वैत का शिकार न होकर चारों वर्णो को एक ही प्रकार की शिक्षा देता है। ऐसा पण्डित ही सम्मान का पात्र है। ऐसे पण्डित समदृष्टा होते हैं। सुखमनी में ग्रन्थों के ज्ञान के स्थान पर मन परबोधने को पहली शर्त माना गया है। पहले पहल पण्डित शब्द पढ़े लिखे विद्वान के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था तथा शास्त्रवेत्ता के लिए प्रचलित था लेकिन कालान्तर में पुरोहित को भी पण्डित कहा जाने लगा। गुरमत के अनुसार मन को संयम में रखने वाला, प्रभु नाम को हृदय में बसाने वाला तथा वेदों के ज्ञान को समझने वाला ही आदर्श पण्डित हो सकता है-

सो पण्डित जो मन परबोधै।
राम नाम आतम महि सोधै।।
राम नाम सारू रस पीवै।
उसु पण्डित कै उपदेसि जगु जीवै।।[31]

गीता में भी पण्डित शब्द एक आदर्श मनुष्य के लिए प्रयुक्त हुआ है-

'जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित है, ऐसे उस ज्ञान रूप अग्नि द्वारा भस्म हुए कर्मों वाले पुरूष को ज्ञानीजन भी कहते हैं-'

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।[32]

धम्मपद में वर्णन है- 'सत्पुरूष सभी (छन्द-राग आदि) को त्याग देते हैं। वे कामभोगों के लिए बात नहीं चलाते। सुख मिले या दुःख, पण्डित जन विकार नहीं प्रदर्शन करते'-

सब्बत्थ वे सप्पुरिसा चजन्ति ।
न कामकामा लपयन्ति सन्तो।।
सुखने फुट्ठा अथवा दुखेन।
न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति।।[33]

'जो अपने लिए या दूसरों के लिए पुत्र, धन और राज्य नहीं चाहता और न अधर्म से अपनी उन्नति चाहता है। वही शीलवान, प्रज्ञावान तथा धार्मिक है।'

न अत्तहेतु न परस्स हेतु।
न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं।।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो।
स सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया।।[34]

हिन्दू धर्मकोश के अनुसार-'पण्डित एक विरूद है। पण्डित को प्रयोग प्रथमता उपनिषदों में हुआ है। इसका मूल अर्थ है- जिसको पण्डा (सद्सद्विवेकनी बुद्धि) प्राप्त हो गयी हो। यह विरूद ब्राह्मणों और अन्य वर्ण के विद्वानों के नाम के पूर्व लगाने की प्रथा है।[35]

ज्ञान शब्दकोश के अनुसार-'पण्डित का अर्थ है शास्त्र के तात्पर्य को जानने वाला विद्वान, वह जिसमें सत असत का विवेक करने की शक्ति हो, ब्राह्मण, विद्वान, कुशल।'[36]

राम के उपासक वैरागी साधू सेवकों को 'रामदास' कहा जाता है। सुखमनी के अनुसार रामदास वह है जिसने आत्मा तथा राम को एक करके जाना है। लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि वह नम्र होकर दास भाव के साथ रहना जानता है तथा सब में रहता हुआ भी निर्लिप्त रहे-

जिस कै मन पारब्रहम का निवासु।
तिस का नामु सति रामदासु।।
आतम रामु तिसु नदरी आइआ।
दास दसंतण भाइ तिनि पाइआ।।
सदा निकटि निकटि हरि जानु।
सो दासु दरगह परवानु।।
अपने दास कउ आपि किरपा करै।

तिसु दास कउ सभ सोझी परै।।
सगल संगि आतम उदासु।
ऐसी जुगति नानक रामदासु।।[37]

मृत्यु के बाद मुक्ति की प्राप्ति कैसी होगी यह एक विवादास्पद विषय है। लेकिन जीवित रहते हुए राग-द्वेष, मान-अपमान, सुख-दुःख आदि से स्वयं को निर्लिप्त कर लेना महत्वपूर्ण प्राप्ति है। जिसने यह अवस्था प्राप्त कर ली वह जीवनमुक्त है-

प्रभ की आगिआ आतम हितावै।
जीवन मुकति सोऊ कहावै।।
तैसा हरखु तैसा उस सोगु।
सदा अनन्दु तह नही बिओगु।।
तैसा सुवरन तैसी उसु माटी।
तैसा अंमृतु तैसी बिखु खाटी।।
तैसा मान तैसा अभिमान।
तैसा रंकु तैसा राजानु।।
जो वरताए साई जुगति।
नानक ओहु पुरखु कहीऐ जीवनमुकति।।[38]

सुखमनी में आदर्श मनुष्य के लिए 'भगौती' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। महान कोश में भगौती का अर्थ लिया गया है-पारब्रह्म या वाहिगुरू।[39] गुरमत के अनुसार सच्चा तथा आदर्श भगौती वह है जिसके हृदय में भक्ति व प्यार है जिसमें दुष्टता नाम मात्र भी नहीं होती। जो समस्त कुकर्मीयों की संगति से परे है। उसके मन में कोई संशय या भ्रम नही होता तथा प्रभु को सर्वव्यापक मानता है। उसके मन में द्वेष भावना नहीं होती। वह प्रभु प्रीति के लिए स्वयं को समर्पित कर देता है इसलिए उसका ध्यान हमेशा नेकी व परोपकार में लगा रहता है-

भगउती भगवन्त भगति का रंगु।
सगल तिआगै दुसट का संगु।
मन ते बिनसै सगला भरमु।
कर पूजै सगल पारब्रहमु।
साध संगि पापा मलु खोवै।
तिस भगउती की मति उत्तम होवै।
भगवन्त की टहल करै नित नीति।
मनु तनु अरपै बिसन परीति।
हरि के चरन हिरदै बसावै।
नानक ऐसा भगउती भगवन्त कउ पावै।।[40]

जीवन मुक्त शब्द का प्रयोग भी सुखमनी में आदर्श मनुष्य के लिए किया गया है। जो प्रभु की आज्ञा में रहता है। दुःख सुख को समान करके जानता है, हर

समय सहज अवस्था में रहता है। मिट्टी व सोने में अन्तर नहीं देखता अर्थात सोना देखकर लोभ में नहीं पड़ता, राजा तथा रंक उसके लिए एक समान हैं। ऐसा मनुष्य जीवितावस्था में जीवनमुक्त कहा जा सकता है-

प्रभु की आगिआ आतम हितावै।
जीवन मुक्त सोऊ कहावै।।
तैसा हरखु तैसा उस सोगु।
सदा अनंदु तह नही बिओगु।।
तैसा सुवरन तैसी उसु माटी।
तैसा अंमितु तैसी बिखु खाटी।।
तैसा मानु तैसा अभिमानु।
तैसा रंकु तैसा राजानु।।
जो वरताए साई जुगति।
नानक ओहु पुरखु कहीऐ जीवनमुकति।।[41]

बौद्ध धर्म बुद्धिवाद, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, कारण-कार्य नियम, समाजवाद, जनतन्त्र शासन पद्धति, विश्वशान्ति आदि के आदर्शों का पालन करता है। बौद्ध धर्म ने जहां मनुष्य की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है वहीं उसके जीवन आदर्श को भी उतना ही महत्व दिया है। इस आदर्श को बौद्ध धर्म में 'निर्वाण' कहा गया है। निर्वाण अर्थात बुझ जाना या तृष्णाओं का अन्त होना। बौद्ध-धर्म इस जन्म को सफल करने के लिए अच्छे कार्यों पर जोर देता है क्योंकि मनुष्य एक ऐसा जीव है जो चेतन होने के साथ-साथ विवेकशील है। आध्यात्मिक उन्नति के लिए मनुष्य योनि आवश्यक है। बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के अनुसार आदर्श मनुष्य को 'बोधिसत्व' कहा गया है। बोधिसत्व सभी आध्यात्मिक विभूतियों से सम्पन्न मानव के लिए सर्वोच्च आदर्श है। मनुष्य के समान जीवन ग्रहण करने से वह मनुष्य है तथा दैवीय विभूतियों से सम्पन्न होने के कारण देव है अर्थात बोधिसत्व को मनुष्य देव कहा जा सकता है। बोधिसत्व का शाब्दिक अर्थ है- बोधि या ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करने वाला व्यक्ति। अपने आचार और विचार से वह परम पवित्र प्राणी है। बोधिसत्व वह प्राणी है जो व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करके भी उसे तब तक स्वीकार नहीं करता जब तक विश्व के सभी प्राणी मुक्त न हो जाएं। अतः वह पर-मुक्ति के लिए आत्म-मुक्ति की अवहेलना करता है। व्यक्तिगत निर्वाण उसके लिए क्षुद्र स्वार्थ है। परमार्थ के लिए स्वार्थ त्याग ही उसका आदर्श है। बोधिसत्व सामाजिक सेवा तथा परोपकार का सजीव चित्र है। दूसरे के दुःख को दूर करने में ही वह सुख पाता है। अतः बोधिसत्व का सबसे बड़ा गुण महाकरूणा है। इस महाकरूणा के कारण ही वह सभी जीवों को सुखी बनाने का व्रत लेता है। बोधिसत्व के चरित्र में हम लोक कल्याण की भावना का उत्कर्ष पाते हैं।

हीनयान के अनुयायी जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में अर्हत पद को मानते हैं। व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करने वाला साधक अर्हत कहलाता है। धम्मपद में वर्णन है

कि आत्मभाव का नाश करके सतत अभ्यास के द्वारा अर्हत पद को प्राप्त किया जा सकता है।

प्रज्ञा, शील तथा समाधि इन त्रिरत्नों को अर्हत धारण करते हैं। प्रज्ञा का अर्थ है- सर्वोच्च ज्ञान। इसी के कारण व्यक्ति का चित्त राग द्वेष से मुक्त होता है अर्थात प्रज्ञा प्राप्ति ही परम लाभ है। शील का तात्पर्य होता है- निषिद्ध कर्मों का त्याग जैसे-हिंसा, चोरी आदि का त्याग। इन कर्मों से चित्त को हटाना ही शील है। अर्थात चित्त की शान्ति के लिए शील की आवश्यकता होती है। चित्त की एकाग्रता ध्यान या समाधि की अवस्था है। व्यक्ति का मन स्वभाव से चंचल होता है तथा विषयों के प्रति उसका आकर्षण बना रहता है। जिस कारण से उनके प्रति माया मोह उत्पन्न होता है। इन वाह्य विषयों से मन को हटाना ही समाधि की अवस्था है। इन त्रिरत्नों की साधना अष्टांगिक मार्ग की साधना है। इस अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करने पर ही निर्वाण लाभ हो सकता है। यह आष्टांगिक मार्ग है-

• सम्यक दृष्टि अर्थात यथार्थ दृष्टि। जीवन तथा जगत के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण रखना। अविद्या के कारण ही मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है तथा हम अनित्य दुःखद पदार्थों को नित्य एवं सुखद मान लेते हैं। यथार्थ दृष्टि से ही मिथ्या दृष्टि का नाश सम्भव है।

•सम्यक संकल्प अर्थात दृढ़ निश्चय करना। इसके भी दो रूप हैं- शुभ संकल्प को ग्रहण करना तथा अशुभ संकल्प का त्याग करना। शुभ संकल्प अर्थात निष्कामना, अद्रोह व अहिंसा का संकल्प। अशुभ संकल्प अर्थात कामना, द्रोह व हिंसा का संकल्प।

•सम्यक वाक अर्थात अनुचित वचनों का त्याग करना अनुचित वचन चार प्रकार के बताए गए हैं- मिथ्या वचन, चुगली करना, कठोर वचन तथा व्यर्थ वचन करना अर्थात मिथ्यावादिता, निन्दा, अप्रिय वचन तथा वाचालता यह चार वाणी के दोष हैं जिनसे मनुष्य को बचना चाहिए तथा मंगलमय या कल्याणकारी, संक्षिप्त तथा प्रिय वचन बोलना चाहिए।

•सम्यक कर्मान्त अर्थात पाप कर्मों का त्याग। पाप कर्म मुख्य रूप से तीन बताए गए हैं-हिंसा, चोरी तथा अब्रह्मचर्य । यह सभी निन्दनीय कर्म माने गए हैं। इनके विपरीत अहिंसा, अस्तेय तथा इन्द्रिय निग्रह पुण्य कर्म हैं जिनके लिए करूणा तथा सन्तोष की आवश्यकता है।

•सम्यक आजीव अर्थात जीविका निर्वाह के लिए उचित मार्ग का अनुसरण तथा निषिद्ध मार्ग का त्याग करना। जीवन निर्वाह के लिए जीविका की आवश्यकता होती है परन्तु जीविका का उपार्जन उचित मार्ग से होना चाहिए। निषिद्ध मार्ग है- दूसरों को क्लेश देकर तथा हिंसा द्वारा जीविकोपार्जन करना।

•सम्यक व्यायाम अर्थात शुभ विचारों का ग्रहण तथा अशुभ विचारों का त्याग करने का प्रयत्न करना। इसके चार अंग हैं- पूर्व के अशुभ विचारों का पूर्णतः त्याग,

नये अशुभ विचारों का उदय न होने देना, मन को सर्वदा शुभ विचारों से आच्छादित करना तथा इन शुभ विचारों को बनाए रखने के लिए सतत प्रयतनशील रहना। प्रयास के बिना बुरी भावनाओं का अन्त नहीं हो सकता तथा अच्छी भावनाओं का आगमन नहीं हो सकता।

•सम्यक स्मृति अर्थात ज्ञात विषयों का यथार्थ स्मरण करना। जिन विषयों का सम्यक ज्ञान हो चुका है उन्हें सतत स्मरण करना चाहिए। जैसे शरीर को शरीर, वेदना को वेदना के रूप में ही स्मरण करते रहना चाहिए । जिससे इन विषयों के यथार्थ स्वरूप का ध्यान बना रहता है।

•सम्यक समाधि अर्थात चित्त की एकाग्रता। समाधि के चार अंग माने गए हैं-ध्यान की पहली अवस्था में साधक एकाग्रचित्त होकर वाह्य विषयों से ध्यान को हटाकर केवल आर्य सत्यों का ही चिन्तन करता है। जिस कारण से उसके मन में अनेक तर्क-वितर्क उठते हैं तथा संदेह का उदय होता है। दूसरी अवस्था में साधक के संदेह दूर हो जाते हैं तथा आर्य सत्यों के प्रति श्रद्धा का उदय होता है। उसे ध्यानजन्य आनन्द का अनुभव होता है। तीसरी अवस्था में साधक का ध्यान आनन्द से भी हट जाता है तथा उसके मन में उपेक्षा के भाव का उदय होता है। चौथी अवस्था में ध्यान जन्य आनन्द, दैहिक सुख आदि किसी का भान नहीं रहता। यह सुख-दुःख से रहित पूर्ण शान्ति, पूर्ण विराग तथा पूर्ण निरोध की अवस्था है।

इस प्रकार से अष्टांगिक मार्ग की साधना के द्वारा अर्हत पद को प्राप्त किया जा सकता है। यह हीनयान का सर्वोच्च आदर्श है। अर्हत का अर्थ है- 'कृतकार्य पुरूष' जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्यवास समाप्त हुआ, जो कुछ करना था वह कर लिया, अब आगे करने को कुछ नहीं।[42] अतः अर्हत क्षीणासव मुक्त महापुरूष है। जिसे इस पद की प्राप्ति हो जाती है वह जीवन्मुक्त हो जाता है। शरीर के छूट जाने पर वह जन्म-मरण के बन्धन से सदा के लिए मोक्ष प्राप्त कर लेता है। हीनयानी इसी को परम पद या परम लाभ मानते हैं। अर्हत की अवस्था आनन्द की अवस्था है।

गीता में मनुष्य का आदर्श स्थित प्रज्ञ बताया गया है। स्थितप्रज्ञ मानव जीवन के लिए सर्वोच्च अवस्था है। स्थितप्रज्ञ का आचरण समाज में अनुकरणीय है क्योंकि वह समाज के लिए मापदण्ड है। स्थितप्रज्ञ गीता की अपनी देन है। स्थितप्रज्ञ का अर्थ है जिसकी प्रज्ञा या बुद्धि स्थिर हो जाती है। अतः स्थितप्रज्ञ का अर्थ समाधिस्थ हुआ अर्थात स्थितप्रज्ञ जाग्रतावस्था की समाधि है। इस अवस्था में परमात्मा के साध अखण्ड सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सभी कार्यो को करते हुए भी अकर्त्तापन का अनुभव होता है। इस अवस्था में काम, क्रोध आदि के बीज जल जाते हैं। अतः यह जाग्रत अवस्था की समाधि है। यह ध्यान जन्य समाधि से भिन्न है। ध्यानजन्य समाधि में एक स्थान पर बैठकर आंखें बन्द कर परमात्मा का एकाग्रतापूर्वक ध्यान किया जाता है। इस अवस्था में शरीर व इन्द्रियों का ध्यान नहीं रहता। इस अवस्था को लयावस्था भी कहते हैं। निद्रा भी एक लय ही है। निद्रावस्था में जो लय होता है उसे सबीज लय कहते

हैं क्योंकि इस अवस्था में अज्ञान का बीज रहता है। समाधि में भी अज्ञान नष्ट नहीं होता क्योंकि समाधि भी एक लय है। समाधि के बाद भी काम, क्रोध आदि के बीज रहते हैं। स्थित प्रज्ञ की समाधि इससे भिन्न है। स्थितप्रज्ञ की समाधि एक 'स्थिति' है लय नहीं। लय मन की वृत्ति है जिसमें सदा परिवर्तन होता रहता है। स्थिति स्थिर रहने वाली अवस्था है। इस प्रकार स्थितप्रज्ञ स्थिर रहने वाली अवस्था है। बुद्धि का अर्थ ज्ञान या प्रकाश है। ज्ञान में अज्ञान भी रहता है जैसे प्रकाश में अन्धकार भी। जब ज्ञान अज्ञान से रहित होकर शुद्ध हो जाता है अर्थात बुद्धि विकारहीन हो जाती है तो बुद्धि को प्रज्ञा कहते हैं । ऐसी शुद्ध बुद्धि या प्रज्ञा से ही मनुष्य परमात्मा में स्थिर रह सकता है। साधारण स्थिर बुद्धि में अस्थिरता भी आ जाती है परन्तु जो प्रज्ञा परमात्मा में लग गयी है उसमें अस्थिरता नहीं आ सकती । इस प्रकार स्थितप्रज्ञ जाग्रत अवस्था में परमात्मा में स्थिर बुद्धि की अवस्था है तथा इसे अवस्था में सभी कार्य परमात्मा की भक्ति में ही किए जाते हैं। स्थितप्रज्ञ सभी कामनाओं और वासनाओं का सर्वथा त्याग कर देता है। कामना और वासना के दो वर्ग माने जाते हैं-शुद्ध और अशुद्ध । इन दो वर्गों के तीन प्रकार हैं- सत्व, रज और तम। सत्व की गणना शुद्ध वर्ग में होती है और रज तथा तम की अशुद्ध वर्ग में। रजोगुणी और तमोगुणी वासनाओं को छोड़ने के लिए सात्विक वासनाओं को अपनाना चाहिए। पुनः सात्विक वासना का भी धीरे-धीरे त्याग करना चाहिए। स्थितप्रज्ञ दोनों प्रकार की कामनाओं और वासनाओं का त्याग करता है। वह परमात्मा में ही सन्तुष्ट रहता है। सात्विक इच्च्छाओं का त्याग तब तक नहीं हो सकता जब तक ईश्वर में भक्ति न हो।

स्थितप्रज्ञ वाह्य सुख-दुःख के प्रति तटस्थ बना रहता है। शुभ और अशुभ, प्रिय और अप्रिय सभी में वह तटस्थ रहता है। इसका कारण यह है कि वह समझता है कि शुभ-अशुभ, प्रिय-अप्रिय ईश्वर के अधीन है, मनुष्य के अधीन नहीं। इसी कारण वह शुभ प्राप्त होने पर हर्षित नहीं होता तथा अशुभ प्राप्त होने पर द्वेष नहीं करता ।

स्थितप्रज्ञ के मन में राग, क्रोध, भय आदि नहीं रहते क्योंकि यह सभी इच्छा के परिणाम हैं। इच्छा या कामना शुभ या अशुभ दोनो हो सकती हैं। शुभ या अशुभ इच्छा के तृप्त होते ही उसमें तृष्णा या आसक्ति उत्पन्न होती है। उसके तृप्त न होने पर उससे क्रोध या भय उत्पन्न होता है। स्थितप्रज्ञ में कामना या इच्छा नहीं होती। अतः उसके परिणाम तृष्णा, क्रोध तथा भय भी उत्पन्न नहीं होते। ऐसे ही स्थितप्रज्ञ को 'मुनि' कहते हैं।

स्थितप्रज्ञ सभी प्रकार के विषयों में संयमित रहता है। स्थितप्रज्ञ के सम्पूर्ण इन्द्रिय-निग्रह की तुलना कछुए के अंगों से की जाती है। जिस प्रकार कछुआ अपने सम्पूर्ण अंगों को सब ओर से खींच लेता है उसी प्रकार स्थित प्रज्ञ भी अपनी सभी इन्द्रियों को विषयों की ओर से खींचकर परमात्मा में लगा देता है। सम्पूर्ण इन्द्रिय-निग्रह स्थिप्रज्ञ का सबसे बड़ा गुण है। सभी इन्द्रियां मन के अधीन होती हैं। मन को परमात्मा में लगा देने से सभी इन्द्रियां स्वतः ही परमात्मा में लग जाती हैं और मनुष्य अनासक्त

आचरण करने लगता है। तात्पर्य यह है कि उसकी आसक्ति केवल परमात्मा की भक्ति में होती है। इसी कारण वह समस्त परिस्थितियों में समभाव से आचरण करता है। गीता का स्थितप्रज्ञ एक आदर्श मानव है। आदर्श प्राप्ति के लिए कई साधनों की व्याख्या की गयी है जिनमे से कर्ममार्ग, ज्ञान मार्ग तथा योग मार्ग मुख्य हैं। गीता में कर्ममार्ग की प्रधानता है। कोई भी मनुष्य कर्म के विना नहीं रह सकता।

कर्म इच्छा से रहित जीवन ही आदर्श प्राप्ति में सहायक होता है। ज्ञानी पुरूष को कर्म प्रभावित नहीं करते। वह फल की इच्छा के विना कर्म करता है।

कर्म के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता तथा ज्ञान की प्राप्ति के लिए मन व इन्द्रियों का संयम आवश्यक है। गीता में भक्ति को भी महत्व प्रदान किया गया है। भक्त अपने समस्त कार्य ईश्वर को समर्पित कर देता है। स्थितप्रज्ञ की धारणा में कर्म, ज्ञान तथा भक्ति तीनों को समन्वय किया गया है। वह अनासक्त कर्म करता है इसलिए कर्मयोगी है। अपने मन तथा बुद्धि को परमात्मा में लगाकर रखता है अतः भक्त है। वह सुख तथा दुःख में समभाव से आचरण करता है। अतः वह ज्ञानी है। इस प्रकार से स्थितप्रज्ञ के चरित्र में कर्म, ज्ञान तथा भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित होती है।

पश्चिमी दार्शनिक नीत्शे ने भी परम मनुष्य की कल्पना की। उसके अनुसार- 'शक्ति बुद्धि तथा अभिमान परम मनुष्य के विशेष गुण हैं।'[43] ऐसा व्यक्ति अपने आप में महत्वपूर्ण होने के कारण आदर पाता है तथा बाकी मनुष्यता उसकी भलाई के लिए एक साधन ळें[44] नीत्शे का परम मनुष्य एक अहंकारी व्यक्ति है। अन्य मनुष्यों को वह नीचा समझता है जैसे मनुष्य बन्दर को स्वयं से नीचा समझता है। विकासवादी विचारकों के समान नीत्शे अपने नैतिक सिद्धान्त को प्राकृतिक चुनाव, योग्यता की जीत तथा निर्बल की पराजय के जीवशास्त्रीय सिद्धान्तों से निगमित करने का प्रयास किया है। वह बलवान बनने की इच्छा के प्रबल समर्थक हैं। उनका विश्वास है कि कठोरता और कौशल नम्र और परिष्कृत स्वभाव के व्यक्तियों की अपेक्षा सबल, स्वतन्त्र व्यक्तियों की प्रगति की अत्यन्त महत्वपूर्ण शर्त है।[45]

नीत्शे के अनुसार शक्ति की इच्छा में ही जीवन का सार निहित है। शक्ति के लिए संघर्ष ही वस्तुतः विकास का प्रारम्भिक नियम है। अतः जीवन की इच्छा को बिना शर्त शक्ति का इच्छा में विकसित करना चाहिए।[46]

इस प्रकार से नीत्शे ने शक्ति की इच्छा, प्रभुत्व प्राप्ति की इच्छा को मानव जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार करके प्रभुत्व, शक्ति एवं स्वार्थसिद्धि के नीतिशास्त्र को प्रतिपादन किया है। उन्होंने शुभ और अशुभ के प्रत्ययों की भी नवीन व्याख्या दी है। उनके अनुसार शुभ वह है जो शक्ति की इच्छा और वास्तविक शक्ति में वृद्धि करे और अशुभ वह है जो इनका ह्रास करे। जगत तथा जीवन दोनों को नीत्शे ने नीतिशून्य माना है। जगत का कोई नैतिक प्रयोजन नहीं है। यह दया, न्याय आदि से शून्य है।

शक्ति की इच्छा ही वास्तव में जीवन है। किसी व्यक्ति पर विजय प्राप्त करना और उसका शोषण करना ही जीवन है। अतः जीवन अनिवार्य रूप से

नीतिशून्य है। प्रकृति और समाज में सभी ओर बलवान बनने की इच्छा अत्यन्त स्वाभाविक है। यही मानव का एकमात्र कर्तव्य है। नीत्शे का शक्तिशाली मनुष्य पूर्णतः स्वतन्त्र व्यक्ति है। वह बुद्धिवादी है और तर्क की कसौटी पर कसे बिना किसी सम्प्रदाय, परम्परा, धर्म और रूढ़ि ही बात नहीं मानता। वह रचनात्मक है। वह भावुकताजनित दुर्वलताओं पर कठोर नियन्त्रण करता है। वह स्वयं नियम और आदर्श निर्माण करता है तथा अपने बनाए नियमों पर ही चलता है।

यह समस्त संकेत जो आदर्श मनुष्य के लिए प्रयुक्त किए गए हैं यह अपनी-अपनी जगह सार्थक हैं। ब्रह्मज्ञानी होना केवल ब्रह्म सम्बन्धी शास्त्रीय ज्ञान की जानकारी होने का नाम नहीं बल्कि उसको मूलतत्व समझकर उससे अभेद होना है। साध ऐसी साधी हुयी आत्मा को कहते हैं जो सही मार्ग पर चलने वाला है। इसी प्रकार सन्त, सेवक तथा भक्त उच्च दैवीय गुणों के पुन्ज हैं। इसी प्रकार से बौद्ध धर्म का वोधिसत्व व अर्हत एक आदर्श मनुष्य है। गीता का स्थितप्रज्ञ एक आदर्श मनुष्य जो किसी प्रकार की फल की आशा नहीं करता। गीता में मन को जीतने के लिए योग साधना की प्रेरणा दी गयी है लेकिन सुखमनी का ब्रह्मज्ञानी योग साधना पर विश्वास नहीं करता। सुखमनी का आदर्श मानव भी निष्काम कर्म करता है तथा किसी प्रकार के फल की इच्छा नहीं रखता-

करम करत होवै निहकरम।
तिसु बैसनो का निमल धरम।।[47]

गीता का योगी ज्ञान तथा कर्म के साथ भक्ति भी करता है। सुखमनी में भक्ति को अत्यन्त महत्व दिया गया है तथा बार-बार नाम सिमरन की प्रेरणा दी गयी है-

ब्रहम गिआनी कै नामु आधरू।
ब्रहम गिआनी कै नामु परवारू।।[48]

सुखमनी का आदर्श मनुष्य यद्यपि आम मनुष्य से वहुत ऊंचा है लेकिन वह नीत्शे के परम मनुष्य के समान अन्य को नीचा समझकर नफरत नहीं करता तथा अहंकार नहीं करता-

ब्रहम गिआनी नाही अभिमान।।[49]

इस प्रकार से सुखमनी में बार-बार ऐसे परम उच्च जीवन की प्रशंसा की गयी है, परमेश्वर के साथ अभेद होकर सच्चा शुद्ध जीवन यापन करने वालों की स्तुति की गयी है जिससे कि इनके प्रभाव से साधारण जीव भी प्रेरणा ले सके। यही उपदेश बार-बार दिया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि बांट कर खाए, शुभ कर्म करे, सच्चा व शुद्ध जीवन व्यतीत करके आदर्श मनुष्य बने जिससे सम्पूर्ण मानव जाति का कल्याण हो सके।

सन्दर्भ

1. R. k. Mukherjee, Hindu Civilization, P. 19
2. C.V. Narian Karam Reddy, Man, Education and Values, p. 39 .
3. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 272.
4. वही, पृष्ठ 272
5. वही, पृष्ठ 272
6. वही, पृष्ठ 273
7. वही, पृष्ठ 293
8. वही, पृष्ठ 286
9. वही, पृष्ठ 277
10. वही, पृष्ठ 285
11. वही, पृष्ठ 269
12. वही, पृष्ठ 278
13. वही, पृष्ठ 274
14. श्री नवल जी, नालन्दा विश्वविद्यालय शब्द सागर, पृष्ठ 1377
15. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ 3
16. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 286
17. वही, पृष्ठ 271
18. मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव, ज्ञान शब्दकोश, पृष्ठ 873
19. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 281
20. काला सिंघ बेदी, गुरू नानक शब्द रत्नाकर, पृष्ठ 102
21. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 264
22. वही, पृष्ठ 271
23. राजबली पाण्डेय, हिन्दू धर्मकोश, पृष्ठ 463
24. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 283
25. वही, पृष्ठ 285
26. वही, पृष्ठ 292
27. मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव, ज्ञान शब्दकोश, पृष्ठ 873
28. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 274
29. वही, पृष्ठ 274
30. वही, पृष्ठ 1147
31. वही, पृष्ठ 274
32. भगवद्गीता, अध्याय 4, श्लोक 19
33. धम्मपदं, गाथा संख्या 83
34. वही, गाथा संख्या 84

की मूल समस्याएं हैं। परम्परागत भारतीय मतों के अध्ययन से यह बात निश्चित तौर पर दृष्टिगोचर होती है कि लगभग सभी मतों की उत्पत्ति दुःखों से हुई है तथा उससे छुटकारा पाने के उद्देश्य से आगे बढ़ती हुई सुख तथा मुक्ति तक पहुंचती है। सुखमनी की रचना भी इसी परम्परा से जुड़ी हुई है।

सुखमनी जीवन का लक्ष्य सत् मानती है। यह अतीन्द्रिय सत् है जो सत्यम् शिवम् सुन्दरम् है। जीवन और भौतिक जगत से परे जो पराभौतिक तत्व है उसे जानने की चेष्टा है। यही चेष्टा सदियों से मनुष्य के मन में सुलगती रहीं है जिसके फलस्वरूप अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ।

जगत को स्वयं प्रकाशित तथा अनादि मानने वाले मतों का सुखमनी में खण्डन किया गया है तथा यह मत स्थापित किया गया है कि जगत स्वयंभू या अनादि कदापि नहीं है बल्कि इसका सृजन करने वाला तथा संहारक ईश्वर स्वयं है।

एक मत यह है कि संसार स्थिर व शाश्वत नहीं बल्कि अस्थिर तथा नाशवान है। सुखी, स्वतन्त्र, स्वाभिमानपूर्ण जीवन जीने के लिये जीव को जगत की अस्थिरता तथा अन्त के प्रति जागरूक रहना आवश्यक है। इसकी अस्थिरता को अनदेखा करके मनुष्य सीमित सुखों के साधनों में सलंग्न अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित की परवाह नहीं करता जिसके परिणाम स्वरूप वह मनुष्य से पशु तथा देवता से दानव बन जाता है। उसे दुःखी से सुखी तथा मनमुख से गुरमुख बनाना सुखमनी का केन्द्रीय लक्ष्य है अर्थात नाम सिमरन, साध संगति तथा प्रभु कृपा से विलग व्यक्तियों के अवर्णनीय व कभी न खत्म होने वाले दुःखों का विस्तृत वर्णन देकर मनुष्य का मन आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित किया गया है। अर्थात सुखमनी का मुख्य उद्देश्य आत्मा व मानसिकता का शुद्धीकरण है। सुखमनी की मुख्य समस्या ही दुःखदायी जीवन का समाधान है । सुखमनी की मान्यता है कि जीवन की बुनियादी आवश्यकता सुख है तथा इसी की प्राप्ति के लिए जीवन तथा दर्शन अपने-अपने क्षेत्र में विकास करते हैं। सुखमनी में जहां सुख के साधनों की व्याख्या की गयी है वहीं दुःखों के मूल कारणों की भी चर्चा है। जहां इस का मूल उद्देश्य इन दुःखों से छुटकारा है वहां अन्तिम उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति है। भारतीय दर्शन के लगभग सभी मत मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण के उद्देश्य को अन्तिम मानते हैं। सुखमनी का जीवन मुक्ति का संकल्प भी भारतीय परम्परागत है।

भारतीय दर्शन में जीवात्मा के बंधन का मूल कारण अज्ञानता है। सुखमनी के अनुसार यह अज्ञानता अहंकार के कारण उत्पन्न होती है तथा इसके कारण ही जीव अपने मूल तत्व परमात्मा से विलग है। आत्मा ही बंधन में पड़ी जीवात्मा कहलाती है। मूल रूप से जीवात्मा ब्रह्म का अंश है। अहंकार के कारण ब्रह्म से विलग है। इसी कारण कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख भोगती है। प्रभु कृपा द्वारा ही इसका अहंकार के बंधनों से छुटकारा हो सकता है। ज्ञान का प्रकाश होने पर इसको अपनी वास्तविकता का ज्ञान होता है-

35. राजबली पाण्डेय, हिन्दू धर्मकोश, पृष्ठ 383
36. मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव, ज्ञान शब्दकोश, पृष्ठ 435
37. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 275
38. वही, पृष्ठ 275
39. महानकोश, पृष्ठ 901
40. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 274
41. वही, पृष्ठ 275
42. भरत सिंघ उपाध्याय, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ 604
43. Will Durant, The Story of Philosophy, p.464
44. Bertrand Russell, Religion And Science, London. 1935, p. 230.
45. "Perhaps severety and crafts are most favourable conditions for the development of strong, independent spirits than gentle, refind, yielding good nature and habits of taking things easily, which are praised, and rightly praised in a learned man." Nietzsche: Beyond Good and Evil, p. 45
46. "A living thing seek above all to discharge its strength-life itself is will to power; Self-preservation is the only one of the indiret and most frequent results thereof." Ibid, p.14-15
47. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 274
48. वही, पृष्ठ 273
49. वही, पृष्ठ 272

उपसंहार

सुखमनी के बहुपक्षीय अध्ययन के पश्चात यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि विषय की दृष्टि से सुखमनी सम्पूर्ण जीवन की अगुवाई करती है। इसमें जीवन के हर पहलू को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण द्वारा प्रकाशित किया गया है। जीवन से संबधित समस्त तत्वों की गंभीरता सहित विश्लेषणात्मक ढंग से व्याख्या की गयी है जिस कारण से उन समस्त दार्शनिक सिद्धातों का प्रतिपादन हुआ है जो जीवन में सहायक हैं। इसका मुख्य कारण है जीवन तथा दर्शन का आपसी सम्बन्ध। सुखमनी में जीवन की मूल समस्या का समाधान प्रस्तुत किया गया है तथा जीवन से सम्बन्धित तत्वों की गहराई से व्याख्या की गयी है जिससे जीवन का परम शुभ भलीभांति प्रगट हो सके। ऐसा करने पर दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या स्वाभाविक रूप से हो जाती है। चूंकि जीवन तथा दर्शन एक दूसरे पर निर्भर हैं। डा. उमेश मिश्र के अनुसार जीवन तथा दर्शन दोनों ही एक लक्ष्य को सामने रखकर एक मार्ग पर साथ-साथ चलने वाले दो पथिक हैं। परम तत्व का सैद्धान्तिक रूप हमें दर्शन में मिलता है तथा व्यावहारिक रूप जीवन में। यह दोनों मिलकर परम तत्व के पूर्ण रूप का अनुभव करते हैं।[1]

सफल जीवन का रहस्य जानने के लिये दर्शन खोज करता है। दर्शन का विकास ही जीवन की समस्या पर निर्भर करता है। दर्शन जीवन की अगुवाई करता व प्रेरणा देता है। वास्तव में जीवन की प्रत्येक बौद्धिक तथा सैद्धान्तिक व्याख्या दर्शन के घेरे में होती है। यही कारण है कि सुखमनी में जीवन की समस्याओं को हल करते हुये दर्शन के मूल तत्वों की व्याख्या हुई है। आमतौर से जीवन उत्पत्ति से विनाश तक का समय है। पदार्थवादियों ने जीवन को श्वास-क्रिया, खाना तथा दुःख-सुख के भोगों से जोड़ा है लेकिन जीवन को केवल इन क्रियाओं तक सीमित करना भ्रामक है। यह शारीरिक क्रियायें हैं। यह जीवन के आधार अवश्य हैं परन्तु जीवन नहीं कहे जा सकते।[2]

आत्मवादियों ने जीवन को कर्म भूमि कहा है जिसमें जीव अपने जन्मों के संस्कारों के अधीन विचरण करता है तथा कर्मों के फल भोगता है तथा नये संस्कारों के बीज बोता है। गीता के अनुसार बिना कर्म के जीवन नहीं हो सकता-

न हि कश्चिद् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

''अर्थात् सर्वथा कर्मों का स्वरूप से त्याग हो भी नहीं सकता, क्योंकि कोई भी पुरूष किसी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रहता है, निःसंदेह सभी पुरूष प्रकृति से उत्पन्न हुये गुणों द्वारा परवश हुये कर्म करते हैं।''[3]

दुःख तथा सुख क्या है ? इनका जीवन से सम्बन्ध कैसे हुआ ? इनसे निवृत्ति कैसे संभव है ? इन प्रश्नों के उत्तर जानने के लिए दर्शन संलग्न है। क्योंकि यह जीवन

अन्तर होए ज्ञान परगास।
उस स्थान का नही बिनास।।[4]

जीव ब्रह्म का व्यक्त रूप है तथा ब्रह्म का विराट रूप जगत है। माया ईश्वर की स्वयं उत्पन्न की गयी विशेष शक्ति है जो उसकी आज्ञा के अधीन रहते हुए भ्रम रूप बनी हुई है। जिस कारण से जीव ब्रह्म तथा जगत की वास्तविकता को नहीं जान सकता। यह सिद्धान्त गीता में भी प्रतिपादित है। जिसके अनुसार त्रिगुणी माया ही जीव को ब्रह्म से दूर रखती है। जगत के सत् होने का निश्चयात्मक विचार उपनिषदों तथा रामानुज के विशिष्टाद्वैत में मिलता है। सुखमनी के अनुसार भी यह रचना सत् पुरूष द्वारा हुई है। वह स्वयं इसमें व्याप्त है। इसलिए यह रचना सत् है। जिस वस्तु का मूल या आधार सत् है वह वस्तु असत् नहीं हो सकती है। अर्थात मूल रूप से यह रचना सत् है केवल दृष्टि का अन्तर है। सुखमनी के अनुसार संसार नाशवान है, क्षण भंगुर है, मिथ्या है। परन्तु यह तब तक होता है जब तक इसमें सत् का अभाव होता है। जहां कहीं मिथ्या शब्द का प्रयोग हुआ है वहां यह भाव है कि संसार स्थिर एवं शाश्वत नहीं है। सदा रहने वाला व अमर केवल परमात्मा का नाम है। लेकिन इस परिवर्तनशीलता का यह तात्पर्य कदाचित् नहीं है कि यह संसार झूठा है।

इस प्रकार से सुखमनी की आध्यात्मिकता जहां भारतीय दर्शन को आधार बनाकर अग्रसर होती है वहीं नैतिक जीवन की साधना तथा मुक्ति का सिद्धान्त भी भारतीय चिन्तन पद्धति के अनुकूल है। भारतीय दर्शन में चौरासी लाख योनियों व आवागमन को स्वीकार किया गया है। सुखमनी भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है। इसी प्रकार से दर्शन के समान कर्म सिद्धान्त पर भी सुखमनी विश्वास करती है। यद्यपि सुखमनी का कर्म सिद्धान्त विकासवादी रूप में प्रस्तुत हुआ है लेकिन इसकी उत्पत्ति परम्परागत भारतीय कर्म सिद्धान्त की नींव से हुई है।

सुखमनी का मूल उद्देश्य जीवन मुक्ति तथा सहज स्वाभाविक सुख या आनन्द की प्रप्ति है जो जीवित अवस्था में प्राप्त हो सकते हैं। सुखमनी में मरणोपरान्त किसी विशेष सुखदायी स्थान का संकल्प नहीं है। आवागमन से छुटकारा सुखमनी के सफल जीवन का रहस्य है। अर्थात प्राप्त जीवन से अलग और कोई जीवन नहीं होता जहां पहुंचकर मनुष्य को सुख दुःख भोगने पड़े। नरक, स्वर्ग के विचार व्यर्थ हैं। सुखमनी की विचारधारा प्राप्त जीवन में पराभौतिक तत्व को उजागर करने की इच्छुक है।

यह पराभौतिक तत्व ही प्राप्त जीवन का मूल आधार है। सुखमनी के अनुसार यह तत्व ब्रह्म तत्व का अंश है। इसके भौतिक जीवन में विलुप्त होने के कारण ही जीवन एक समस्या लगता है। दर्शन इसी पराभौतिक तत्व की खोज को ध्यान में रखकर अग्रसर होता है। यह तत्व कहां से उत्पन्न हुआ ? इसका सृष्टि से क्या संवन्ध है ? इसका आदि व अन्त क्या है ? इन विषयों के सम्बन्ध में सुखमनी में व्याख्या सहित विवेचन किया गया है। इस विवेचन ने ही मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन की

ओर प्रेरित किया । इसके अन्तर्गत सदाचारी गुणों की उत्पत्ति हुई तथा नैतिक जीवन का विकास हुआ।

भारतीय आध्यात्मिकता में साधना पक्ष पर भी अत्यन्त बल दिया गया है। जिसके फलस्वरूप ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग एवं कर्मयोग मार्ग की व्याख्या हुई है। सुखमनी का साधना मार्ग इन्हीं मार्गों का समन्वित रूप है। सुखमनी में मनुष्य को भक्ति के प्रमुख साधन नाम सिमरन, साध संगति, प्रभु कृपा तथा आज्ञा को अपनाने पर अत्यधिक बल दिया गया है तथा अहंकार एवं माया का त्याग करने का संदेश है। इसका केन्द्रीय विषय भी नाम सिमरन ही है। नाम सिमरन के महत्व को प्रकाशित करने के लिए विविध ढंग अपनाये गये हैं। नाम सिमरन दुःख भंजन है, मोक्ष दाता है, सर्वसुख विधान है आदि। नाम के महत्व को सबसे श्रेष्ठ बताने के लिए तुलना का भी प्रयोग किया गया है।

साध, ब्रह्म ज्ञानी, सेवक, पंडित आदि के गुणों का भी वर्णन किया गया है। ऐसे व्यक्ति अपने उत्तम कर्मों से परमेश्वर रूप हो जाते हैं। इसलिए सुखमनी भौतिक जगत के मन को लुभाने वाले क्षणिक एवं अस्थिर नजारों में विचरण करते अहंकार युक्त जीवन का खण्डन करती है। मनुष्य को सदाचारी मूल्यों को ग्रहण करने का सुझाव दिया गया है तथा लोभ, मोह, माया व अहंकार जैसे अनैतिक कर्मों से छुटकारा पाने का संदेश दिया गया है क्योंकि यह कार्य व्यक्ति को मानव से दानव बना देते हैं। सुखमनी के अनुसार जहां जीव की सांसारिक तथा पदार्थक आवश्यकताएं प्रभु की कृपा द्वारा पूर्ण होती है। वहीं उसका बौद्धिक आध्यात्मिक तथा सदाचारी विकास भी प्रभु की कृपा पर ही निर्भर करता है अर्थात सुखमनी में नैतिक विधान को सफल जीवन की नींव माना गया है। व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक जीवन की सफलता नैतिक गुणों पर निर्भर करती है। परमार्थक उपलब्धि के लिए सदाचार को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। दया, धर्म सत्य, सन्तोष, विनम्रता, उपकार, सेवा आदि आदर्श गुण ही जीवन का आधार है।

वास्तव में जीवन एक संघर्ष है। व्यावहारिक रूप से इसका संघर्ष पदार्थों की प्राप्ति तथा भौतिक सुखों की प्राप्ति होता है। आध्यात्मिक रूप से इसका संघर्ष सत्य की प्राप्ति, मुक्ति एवं आनन्द के लिए होता है। इसलिए वर्तमान भौतिकवादी युग में सुखमनी के सन्देश को अत्यन्त सूक्ष्मता व गहनता के साथ अध्ययन करने की, इस पर विचार करने की तथा उसके अनुसार आचरण करने की आवश्यकता है जिससे सम्पूर्ण मानव जाति अमन चैन का जीवन व्यतीत कर सके।

सन्दर्भ

1. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 7
2. अरविन्द घोष, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 271
3. भगवद्गीता, अध्याय 3, श्लोक 5
4. गुरू ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ 278

सहायक पुस्तक सूची

पंजाबी

- ओंकार सिंघ, सुखमनी साहिब-एक अध्ययन, लाहौर बुक शाप, 1969
- करतार सिंघ सूरी (डा.), गुरू अर्जुन देव (कला ते चिन्तन), नानक सिंघ प्रकाशन, चण्डीगढ़, 1989
- गुरमुख सिंघ, सुखमनी- विश्लेषण अते व्याख्या, लाहौर बुक शाप, लुधियाना, 1987
- जोगिन्दर सिंघ (डा.), सुखमनी साहिब दा दार्शनिक आधार, भाषा विभाग, पंजाब, 1986
- जोध सिंघ (भाई), गुरमति निर्णय, लाहौर, 1945
- तेजा सिंघ सोढी, कथा दीप सागर(सुखमनी साहिब सटीक), भाई जवाहर सिंघ कृपाल सिंघ, अमृतसर,1962
- प्यारा सिंघ पदम, सुखमनी दर्शन, पब्लीकेशन ब्यूरो, पंजाबी यूनीवर्सिटी, पटियाला, 1988
- महिन्द्र कौर गिल (डा.), गुरू अर्जुन देव (जीवन ते बाणी), नेशनल बुक शाप, चांदनी चौक, दिल्ली, 1975
- राजेन्द्रजीत कौर ढीडंसा (डा.), गुरू अर्जुन देव जी का रहस्यवाद, लाहौर बुक शाप, लुधियाना,2000
- रतन सिंघ जग्गी (डा.), पंजाबी साहित्य का स्रोतमूलक इतिहास
- राम सिंघ (डा.), सुखमनी साहिब- एक सर्वपक्षीय अध्ययन, पंजाबी साहित्य अकादमी, लुधियाना, 1966
- साहिब सिंघ (प्रो.), सुखमनी साहिब सटीक, सिंघ ब्रदरज,अमृतसर,2001
- सुरजीत सिंघ (डा.), पंजाबी साहित्य का स्रोतमूलक इतिहास, पंजाब.

हिन्दी

- अशोक कुमार वर्मा (डा.), नीतिशास्त्र की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1954
- आनन्द झा (आचार्य), चार्वाक दर्शन, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1969
- उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन
- जे. एस. मैकेन्जी, नीति प्रवेशिका(अनुवाद), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1964

- दुर्गादत्त पाण्डेय (डा.), धर्म दर्शन का सर्वेक्षण, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002
- बद्रीनाथ सिंघ (डा.), भारतीय दर्शन, स्टूडेण्टस फ्रेण्डस एण्ड कम्पनी, वाराणासी, 1999
- बद्रीनाथ सिंघ (डा.), धर्म दर्शन, स्टूडेण्टस फ्रेण्डस एण्ड कम्पनी, वाराणासी, 1989
- बद्रीनाथ सिंघ (डा.), नीतिशास्त्र, स्टूडेण्टस फ्रेण्डस एण्ड कम्पनी, वाराणासी, 1985
- बद्रीनाथ सिंघ (डा.), पाश्चात्य दर्शन, स्टूडेण्टस फ्रेण्डस एण्ड कम्पनी, वाराणासी, 1981
- बलदेव उपाध्याय (प.), भारतीय दर्शन, वाराणासी, 1966
- बसन्त कुमार लाल, समकालीन भारतीय दर्शन
- याकूब मसीह (डा.), सामान्य धर्म दर्शन एवं दार्शनिक विश्लेषण, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणासी, 1992
- याकूब मसीह, तुलनात्मक धर्म दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली, 1997
- याकूब मसीह (डा.), पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1996
- याकूब मसीह (डा.), पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1976
- राजेन्द्र प्रसाद (प्रो.), दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, शुक्ला बुक डिपो, पटना, 1978
- राधाकृष्णन (डा.), भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1969
- रामनाथ शर्मा (डा.), धर्म दर्शन, केदारनाथ रामनाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ, 1991
- वात्स्यायन (डा.), पाश्चात्य दर्शन, केदार नाथ राम नाथ, मेरठ, 1981
- वेद प्रकाश वर्मा, धर्म दर्शन की मूल समस्याएं, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2000
- व्यास मिश्र (डा.), सिक्ख पर्म का दार्शनिक विवेचन, आराधना प्रकाशन, वाराणसी, 1966
- सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय (डा.) व धीरेन्द्र मोहन दत्त (डा.), भारतीय दर्शन, पुस्तक भण्डार, पटना, 1964
- हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा (प्रो.), भारतीय दर्शन की रूपरेखा,मोतीलाल बनारसी दास, नयी दिल्ली,1996

- हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा (प्रो.), धर्म दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसी दास, नयी दिल्ली, 1998
- हृदय नारायण मिश्र (डा.), धर्म दर्शन परिचय, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000

ENGLISH

- Atkinson Lee, Ground work of Philosophy of Religion
- G. E. Moore, Principia Ethica, Cambridge uni. press, 1962
- Henery Sidgwick, Methods of Ethics
- Herbert Spencer, The Data of Ethics
- J. S. Mackenzie, A Manual of Ethics, Uni.Tutorial Press Ltd., London, 1964
- Kant, Metaphysics of Morals
- M. A. Macauliffe, The Sikh Religion, 3 vol. ed. S. Chand, New Delhi, 1963
- Nietzsche, Beyond Good and Evil
- R.A.P.Rogers, A Short History of Ethics
- S. S. Kohli, Outlines of sSikh thoughts, New Delhi, 1966
- S. S. Kohli, A Critical study of Adi Granth, Motilal Banarsidas, Delhi, 1976
- Will Durant, The Story of Philosophy, New York, 1926
- William Lillie, An Introduction to Ethics, Allied publishers private Ltd., Delhi, 1983



कैप्टन डा. मनमीत कौर सोडी
एम.ए., पीएच.डी.
विभागाध्यक्षा, दर्शन शास्त्र
एन.सी.सी. प्रभारी
नवयुग कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
राजेन्द्र नगर, लखनऊ (उ.प्र.)

'सुखमनी' सिखों के पंचम गुरू श्री गुरू अर्जुन देव जी की गउड़ी राग में लिखी एक महान दार्शनिक काव्य रचना एवं आध्यात्मिक जगत को एक श्रेष्ठ व अद्वितीय देन है, जो श्री गुरू ग्रन्थ साहिब जी में पृष्ठ 262 से 296 तक अंकित है तथा जनमानस में सर्वाधिक लोकप्रिय है। यह एक योजना सहित रची गयी वाणी है जिसमें मानव आत्मा विकास की मंजिलों को तय करती हुयी परमानन्द तक पहुंचती है। इस का मूल उद्देश्य जीवन मुक्ति तथा सहज स्वाभाविक सुख या आनन्द की प्रप्ति है जो जीवित अवस्था में प्राप्त हो सकते हैं। चौबीस अष्टपदीयों में एक क्रमबद्ध चर्चा है जिसके माध्यम से यह दर्शाया गया है कि मनुष्य किस प्रकार से सुखी हो सकता है तथा शान्त, सहज एवं सन्तुलित जीवनयापन करते हुए आदर्श समाज की रचना में योगदान दे सकता है।